मार्क्सवाद और
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
के कुछ पहलू

शिवदास घोष

मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कुछ पहलू

मार्क्सवाद और उसकी दार्शनिक बुनियाद अर्थात द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कुछ जड़सूत्रों की समष्टि या सूत्रवाद नहीं है। यह है विज्ञान की तमाम शाखाओं से हासिल हुए और इतिहास से उपलब्ध तजुर्बों के संयोजन और सामान्यीकरण के जरिये उभर कर आये एक विज्ञान आधारित दर्शन जो तमाम सामाजिक समस्याओं के समाधान में मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। नित नये-नये क्षेत्रों में प्रयोग के जरिये यह और भी विकसित होता रहता है। यह भाषण एक राजनैतिक शिक्षण शिविर में दिया गया था। विज्ञान की समसामयिक प्रगति को मद्देनजर रखते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मूल नियमों की एक संक्षिप्त रूपरेखा इस भाषण में सरल शब्दों में पेश की गयी है।

आगामी कुछ दिनों तक चलने वाले इस राजनैतिक शिक्षण शिविर में चर्चा का मुख्य विषय है मार्क्सवाद। शुरू में ही एक बात साफ हो जानी चाहिए कि मार्क्सवादी दर्शन के विभिन्न पहलुओं पर समग्र रूप से चर्चा करना इतने सीमित समय के अंदर संभव नहीं है। फिर भी मार्क्सवाद के बारे में कुछ जरूरी और बेशकीमती पहलुओं पर जितनी दूर तक संभव होगा, मैं इस क्लास में चर्चा करने की पूरी-पूरी कोशिश करूंगा।

हमें क्यों करना चाहिए मार्क्सवाद का अध्ययन

शुरू में ही एक बात आम तौर पर सभी को समझनी चाहिए, वह यह है कि दुनिया में इतने सारे दर्शनों के रहने के बावजूद, क्यों हम खासकर मार्क्सवाद के ही बारे में चर्चा करना चाहते हैं, क्यों मार्क्सवाद को लेकर चर्चा करने पर इतना ज्यादा महत्व देते हैं? क्या यह सिर्फ

इसलिए कि मार्क्सवाद एक खास दर्शन है और एक खास दर्शन होने के नाते ही हम उसे जानना चाहते हैं–या इसका कोई दूसरा अर्थ या तात्पर्य है? आप लोगों को याद रखना चाहिए कि जिस उद्देश्य से स्कूल-कॉलेजों के विद्यार्थी विभिन्न दर्शनों व विचारधाराओं को पढ़ते हैं और चर्चा करते हैं, हम उस ढंग से मार्क्सवाद की चर्चा नहीं करते हैं। हम मार्क्सवाद को इतनी महत्वपूर्ण विचारधारा मानते हैं कि मार्क्सवाद का अध्ययन करना आज की दुनिया में उन सब लोगों के लिए जरूरी है जो सामाजिक परिवर्तन की धारा को तेज करना चाहते हैं। मैं जानता हूं कि इस बात पर बहुत से मतभेद हैं। ये मतभेद हो ही सकते हैं, इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है। लेकिन मैं जिसे सत्य मानता हूं उन सब बातों को मैं आपके सामने रखने की कोशिश करूंगा। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप मेरी बात को जांच-परख के बाद ही ग्रहण करें, न कि अंधता के वश में होकर। यानी मेरी बातों को आप इसलिए सत्य नहीं मान लें क्योंकि मैं कह रहा हूं। इस तरह के चिंतन में एक यांत्रिकता का रुझान काम करता है और यांत्रिकता का यह रुझान न सिर्फ सत्य को समझने में दिग्भ्रमित करता है, बल्कि बहुत बड़ा नुकसान भी कर सकता है। अत: मैं कह रहा हूं इसलिए नहीं बल्कि मेरी कही हुई बातों के सत्य-असत्य की छानबीन करके, सब कुछ को सोच-विचार करके, जांच-परख करके ही आप ग्रहण करें।

आज न केवल पूरी दुनिया की शोषित-पीड़ित जनता बल्कि पूरी मानव सभ्यता ही घनघोर संकट का सामना कर रही है। संकट के मूल कारण को चिह्नित करना, ये सब समस्याएं क्यों पैदा हो रही हैं–इनका पता लगाना आज, खासकर शोषित-पीड़ित जनता के लिए बहुत जरूरी हो गया है। मेरे ख़याल से जब तक मार्क्सवादी दर्शन को सही-सही समझा नहीं जायेगा और इसके बारे में विस्तृत ज्ञान और सर्वांगीण समझदारी हासिल नहीं की जायेगी, तब तक विभिन्न समस्याओं और मौजूदा दुनिया के संकट का सही चरित्र निर्धारण करना शोषित जनता के द्वारा संभव नहीं होगा और हर तरह के जुल्म, बेइंसाफी व शोषण के चंगुल से वे स्वयं को मुक्त भी नहीं कर पायेंगे। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र आदि जीवन के सभी क्षेत्रों

को केन्द्रित करके यह घटना क्यों घट रही है, वह घटना क्यों घट रही है–ऐसे एक के बाद एक सवालों की झड़ी लग रही है। इन सारे 'क्यों' का सही जवाब मार्क्सवाद के सिवा दूसरा और कोई दर्शन नहीं दे सकता। क्योंकि मार्क्सवाद ही एकमात्र वैज्ञानिक दर्शन है। इसके अलावा, मार्क्सवाद का काम सिर्फ दुनिया की व्याख्या करना ही नहीं है, बल्कि दुनिया को बदलना भी इसका काम है। इसलिए निष्क्रिय, बेकार एवं निष्फल विचारधारा से मार्क्सवाद का कोई लेना-देना नहीं है।

मार्क्सवाद एक विज्ञान है

आप लोगों ने अवश्य ध्यान दिया होगा कि मैंने मार्क्सवाद का उल्लेख विज्ञान के तौर पर किया है। हालांकि दुनिया के बड़े-बड़े विद्वान इसे आम तौर पर एक दर्शन, एक विशेष चिंतनधारा (school of thought), एक विचारधारा के तौर पर ही जानते हैं। लेकिन मैं जैसे मार्क्सवाद को समझा हूं मेरे मतानुसार दूसरे दर्शनों या चिंतनधाराओं की तरह मार्क्सवाद भी महज एक विशेष विचारधारा या मतवाद है–ऐसा समझना बिल्कुल गलत होगा, क्योंकि उस मामले में यही लगेगा कि मानो मार्क्सवाद भी दूसरे दर्शनों जैसा ही एक दर्शन है। ऐसी समझदारी का अर्थ होगा हम लोग व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द के आधार पर मार्क्सवाद को चाहे ग्रहण करें या न करें। लेकिन बात बिल्कुल ऐसी नहीं है। विज्ञान के मामले में ऐसा नहीं होता है। इसे उदाहरण देकर स्पष्ट करने से आपको समझने में आसानी होगी। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति कह रहा है कि भौतिकी (physics) की बहुत सारी चिंतनधाराएं (school of thought) हैं और उनमें से कोई भी एक चुनी जा सकती है। निश्चित रूप से यह अवधारणा किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं हो सकती। विज्ञान जगत में इस तरह के चिंतन के लिए कोई स्थान नहीं है। विज्ञान में ऐसा हो सकता है कि एक ही विषय या प्रश्न के बारे में विभिन्न वैज्ञानिक अपनी-अपनी संकल्पनाएं (hypothesis) प्रस्तुत कर सकते हैं, लेकिन सिर्फ परीक्षण-निरीक्षण के जरिये ही हम इस निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि उनमें से या तो कोई एक संकल्पना सही है, नहीं तो कोई भी सही नहीं है। केवल जांच-परख करके ही यह तय करना होता है। इसी वजह से विज्ञान

दुनिया के सभी देशों के सभी लोगों के मामले में एक ढंग से लागू होता है। देश या राष्ट्र अलग-अलग होने से वैज्ञानिक सिद्धांत बदल नहीं जाते हैं। अत: जब मैं कहता हूं कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है और अगर मेरी ये बात सही है तो–यह किस किस्म का विज्ञान है इस चर्चा पर मैं बाद में आऊंगा, तब यह बात हमें अवश्य ही मान लेनी पड़ेगी कि विज्ञान के रूप में यह तमाम देशों की समस्त जनता के क्षेत्र में ही लागू है। इसका कोई भी देश या राष्ट्र नहीं हो सकता। सभी देशों, सभी राष्ट्रों, तमाम जनता के सामने जितने भी सवाल हैं, उनकी जितनी भी जिज्ञासाएं हैं, उनका सही जवाब केवल मार्क्सवाद ही दे सकता है। इसके बाद हमारे सामने एक ही सवाल रह सकता है कि हम विज्ञान को अपनायें या छोड़ दें।

हम सभी सहमत हैं कि हम सत्य को जानना चाहते हैं, सत्य को खोजना चाहते हैं। हम यह भी जानते हैं कि विज्ञान ही एकमात्र साधन है जो कि मनुष्य के सामने सत्य को उजागर कर सकता है। सत्य को सही-सही जानने का विज्ञान के सिवा और कोई उपाय नहीं है। किसी मनगढ़ंत चिंतन पद्धति के द्वारा हम सत्य को नहीं जान सकते, जानना संभव नहीं है। अत: मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जो कि एक समग्र विज्ञान के रूप में विकसित हो चुका है, उसे जानना, समझना व व्यवहार में प्रयोग करना महत्वपूर्ण ही नहीं बल्कि निहायत जरूरी है। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की चर्चा और ज्ञान साधना को किसी व्यक्ति की पसन्द-नापसन्द या इच्छा-अनिच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता।

विज्ञान कहने से हमारा अभिप्राय क्या है? आम तौर पर विज्ञान का मायने हम भौतिकी, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, गणित शास्त्र, सामाजिक विज्ञान आदि समझते हैं। हम इन्हें विज्ञान क्यों कहते हैं? क्योंकि ये परीक्षण-निरीक्षण के सहारे सत्य को खोजते हैं। किस किस्म के सत्य को विज्ञान की ये सभी शाखाएं खोजती हैं? ये विशेष-विशेष वस्तुएं जिन विशेष-विशेष नियमों द्वारा नियंत्रित होती हैं, विभिन्न शाखाएं अलग-अलग उन नियमों का ही पता लगाती हैं, अध्ययन करती हैं। मिसाल के तौर पर रसायन विज्ञान (chemistry) वस्तु के रासायनिक गुणों, क्रियाकलापों तथा रासायनिक नियमों का अध्ययन

करता है। भौतिकी (physics) वस्तु को नियंत्रित करने वाले भौतिक नियमों का अध्ययन करती है और प्रयोग करती है। उसी तरह जो विज्ञान जैव जगत के विभिन्न तरह के परिवर्तनों और क्रियाकलापों को समझने का प्रयत्न करता है, वह है जीव विज्ञान। फिर जो विज्ञान समाज के परिवर्तन की धारा को समझने और प्रभाव डालने में हमारी मदद करता है वह है सामाजिक विज्ञान।

तब हमने देखा कि विज्ञान की ये सभी शाखाएं-प्रशाखाएं वस्तु के विशेष-विशेष गुण-धर्मों, क्रियाओं और नियमों को जानने और प्रयोग में लाने का प्रयत्न करती हैं। इस संबंध में एक बात अवश्य ही ध्यान में रखनी जरूरी है कि विज्ञान की ये सभी शाखाएं ऊपरी तौर पर या औपचारिक रूप से अलग-अलग हैं, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। ये सभी एक-दूसरी से संबंधित हैं, एक ही धागे में पिरोई हुई हैं, जैसे किसी नेकलेस या माला में मनके पिरोये होते हैं। इसलिए एक समय एक सवाल उठा था कि क्या दुनिया में ऐसा कोई विज्ञान है, जो कि समूचे वस्तु जगत के सभी विशेष-विशेष सत्यों को, सभी विशेष-विशेष नियमों को विश्लेषित, परस्पर-संबंधित और एकीकृत कर सकता है? तो इस सवाल का जवाब देते हुए मेरा यही कहना है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से पहले ऐसे किसी भी विज्ञान का आविर्भाव नहीं हुआ था। विज्ञान के प्रगति पथ पर चलते हुए मानव सभ्यता के एक खास स्तर पर पहुंच जाने पर एकमात्र द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एक ऐसे समग्र विज्ञान (comprehensive science) के रूप में उभरकर आया। जिसने विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से हासिल सत्यों और ज्ञान को संयोजित (coordinate) करके दुनिया के बारे में समग्र और सुसंगत अवधारणा दी है, कुछ आम सत्यों को पेश किया है। इसी वजह से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को 'विज्ञानों का समन्वय' या 'सभी विज्ञानों का विज्ञान' कहा जाता है और यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही मार्क्सवाद की दार्शनिक बुनियाद है। यही एक ऐसा दर्शन है, जिसका दृष्टिकोण विश्वजनीन (universal) है और यह समूची दुनिया के हर क्षेत्र पर रोशनी डाल सकता है।

इस विषय का मैं जरा और खुलासा करना चाहता हूं। पूरे वस्तु जगत को औपचारिक तर्क (formal logic) के मुताबिक अलग-अलग

ढंग से बांटकर विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अनुसंधान और परीक्षण-निरीक्षण की जो चालू पद्धति है, उसे अपनाते हुए वस्तु की विभिन्न विशेष-विशेष क्रियाओं, विशेष नियमों एवं विशेष-विशेष गुण-धर्मों को हम अलग-अलग जान रहे हैं। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि वस्तु के भिन्न-भिन्न नियमों या विशेष-विशेष गुण-धर्मों को जान लेने से ही उनसे हम वस्तु के बारे में मुकम्मल धारणा नहीं पा सकते–जिस तरह यह नहीं पा सकते उसी तरह मानव समाज, इसकी नीति-नैतिकता, प्रगति या प्रतिक्रिया से संबंधित विभिन्न समस्याओं का सही समाधान भी नहीं पा सकते। इसलिए मैं कह रहा था कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से प्राप्त जिन विशेष-विशेष सत्यों को हम जान पा रहे हैं, उन विशेष सत्यों को संयोजित-समन्वित करने का काम कौन वैज्ञानिक या किस तरह का विज्ञान करेगा। यह काम आइंस्टीन जैसा वैज्ञानिक कर नहीं सकता, करना संभव भी नहीं है। लेकिन हमें एक ऐसे समग्र विज्ञान की जरूरत है जो विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से प्राप्त विशेष सत्यों या ज्ञान को समन्वित व संयोजित कर सके, जीवन में उसका तात्पर्य क्या है, उसकी कार्यकारिता क्या है, इस बारे में साफ धारणा दे सके। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही वह समग्र (comprehensive) विज्ञान है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से पहले और कोई भी दर्शन यह कार्य पूरी तरह से या समग्र रूप से नहीं कर सका। फिर, इस तरह के एक समग्र विज्ञान के आविर्भाव के लायक वस्तुनिष्ठ परिवेश या ठोस परिस्थिति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आविर्भाव से पहले तैयार ही नहीं हुई थी। इसी वजह से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से पहले कोई भी दर्शन समग्र विज्ञान का चरित्र लेकर उभरकर नहीं आ सका।

अत: यह बात साफ है कि दूसरे दर्शनों के साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का फर्क यही है कि दूसरा कोई भी दर्शन पूरी तरह विज्ञान पर आधारित नहीं है। दूसरे दर्शन मुख्यत: विभिन्न दार्शनिकों की अपनी-अपनी बुद्धि-विवेक, व्यक्तिगत अनुभव व प्रज्ञा (intellect) पर निर्भर करके ही निर्मित हुए हैं और उन्होंने विज्ञान पर अपना वर्चस्व जमाना चाहा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिवा और दूसरा कोई भी दर्शन एक सर्वांगीण विज्ञान का रूप हासिल करने में कामयाब नहीं हो

सका जो कि पूरी तरह मनुष्य के सामने सत्य के मार्ग को खोल सके, सत्य की खोज कर सके और जीवन के तमाम पहलुओं पर सही मार्गदर्शन कर सके। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए यह काम करना कैसे संभव हुआ? यह इसलिए संभव हो सका कि जिस समय इस दर्शन का जन्म हुआ उस समय विज्ञान की विभिन्न शाखाएं ऐसी उन्नत स्थिति में आ चुकी थीं जिसके कारण वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को यह कार्य पूरा करने का आधार प्रदान कर सकीं। ऐतिहासिक कारण के चलते ही इससे पहले ऐसा होना संभव नहीं था।

सिर्फ मार्क्सवाद के सिद्धांत जानने से ही कोई मार्क्सवादी नहीं बन जाता

इस प्रसंग में एक और बात मैं आप लोगों से कहना चाहता हूं। आप लोगों को ध्यान में रखना चाहिए कि द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति का अनुसरण करना ही मार्क्सवाद है। इसलिए मार्क्सवाद के निष्कर्षों के बारे में जानकारी रहने से ही मार्क्सवाद पर पकड़ हासिल नहीं हो जाती है। क्योंकि मार्क्सवाद के निष्कर्षों से वाकिफ होने पर भी अगर आप मार्क्सवादी दृष्टिकोण और विचार-विश्लेषण पद्धति नहीं अपना सके, तो किसी नयी समस्या या परिस्थिति पर प्रकाश डालना आप के लिए संभव नहीं होगा। इस मामले में 'हिस्टोरिक्ल पैरलल' या 'एनालोजी' का यानी किसी एक घटना के साथ मिलती-जुलती या सादृश्यपूर्ण किसी दूसरी घटना से तुलना करने के तरीके का सहारा लेने के सिवा आपके पास और दूसरा कोई उपाय नहीं रहेगा। अत: आपको हर पल याद रखना चाहिए कि मार्क्सवाद का अध्ययन करने का मतलब विभिन्न मार्क्सवादी मनीषियों या ऑथोरिटियों की कही बहुत सारी बातों को कंठस्थ कर लेना मार्क्सवाद का अनुशीलन करना नहीं है। सिर्फ किताबें पढ़कर ही मार्क्सवाद को जान लेना संभव नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि मार्क्सवाद की किताबें पढ़ना और मार्क्सवाद के बारे में चर्चा करने का काम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, लेकिन संघर्ष का सामना किये बगैर, अपने अंदर और परिवेश के साथ संघर्ष में उतरे बगैर और जिंदगी में बहुत ही जरूरी व उपयुक्त संघर्ष चलाये बगैर मार्क्सवाद को आत्मसात करना संभव नहीं है। अत: द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों को न

केवल विज्ञान को आधार बनाना होगा, बल्कि उन्हें परीक्षण-निरीक्षण, प्रमाणित सत्य, तर्कशास्त्र और इतिहास पर निर्भर करना होगा—अर्थात व्यवहार की कसौटी (criteria of practice) पर खड़ा होना होगा। इसलिए यह जरूरी है आप लोग वास्तव में जिम्मेदारी लें और इस पर काम करें। इसलिए एक तरफ अपने को काम में लगाना और दूसरी तरफ यथासंभव मार्क्सवादी साहित्य पढ़ना व चर्चा करना—ये दोनों काम ही आप लोगों को जिन्दगी भर जारी रखने होंगे। आप लोग इस संघर्ष में लगे रहते हुए अपना सांस्कृतिक स्तर उन्नत करने में जिस हद तक सक्षम होंगे, उस हद तक उत्तरोत्तर उन्नत कम्युनिस्ट चरित्र हासिल कर सकेंगे और जितना ही अपने ज्ञान की धार को तेज कर सकेंगे, उतना ही मार्क्सवादी विचार-पद्धति अपनाने के मामले में भी आप लोग सफल हो पायेंगे।

अब चर्चा करके यह देखा जाये कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्या कहना है? इसके निष्कर्ष क्या हैं, यह सचमुच विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है कि नहीं और मानव सभ्यता के सामने जो सब संकट मुंह बाये खड़े हैं उन पर प्रकाश डाल सकता है कि नहीं? मैं पहले ही कह चुका हूं कि समस्या का मूल कारण अगर हम समझ न सकें, तो हम उसके समाधान का रास्ता भी नहीं निकाल सकेंगे। यहां एक बात और समझनी होगी, वह है कि वैज्ञानिक क्या करते हैं जब वे विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में प्रयोग कर रहे होते हैं। वैज्ञानिक तौर-तरीकों के जरिये, जांच-पड़ताल की वैज्ञानिक पद्धतियां अपनाकर वे खोज या आविष्कार में मदद के लिए अंधेरे में रोशनी डालते हैं, अंधकार दूर करके उनके बारे में सच्चाई जानना चाहते हैं। लेकिन हमारे जीवन की समस्याएं ऐसी नहीं हैं कि भौतिकी या रसायन विज्ञान की सहायता से हम उनका समाधान ढूंढ़ सकें। अत: यह बात साफ है कि प्रत्येक व्यक्ति के सामने, मानव सभ्यता के सामने जो सवाल या समस्याएं खड़ी हुई हैं अर्थात हम लोगों के जीवन की जो जिज्ञासा है, उसका समग्र व सही जवाब देने के लिए विज्ञान की कोई विशेष शाखा हम लोगों की कोई मदद नहीं कर सकती है। लेकिन चूंकि सारी समस्याएं दूसरी-दूसरी समस्याओं से संबंधित हैं, अत: ये सभी कैसे एक-दूसरे से संबंधित हैं तथा एक-दूसरे से प्रभावित हैं इन्हें अच्छी

तरह जानना-समझना जरूरी है। इसलिए ऐसा एक विज्ञान समाज में निहायत जरूरी हो गया है जो कि इस समस्याग्रस्त समाज में समाधान का सही रास्ता दिखा सके। हम लोग पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही वह विज्ञान है जो कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के मौलिक निष्कर्षों का संयोजन व समन्वय करके ही विकसित हुआ है और यही विज्ञान हम लोगों का सही मार्गदर्शन कर सकता है। अत: मार्क्सवाद को हमें किसी शाश्वत, अपरिवर्तनीय अवधारणा या जड़सूत्र के रूप में नहीं, बल्कि विज्ञान के रूप में ही समझना चाहिए। अर्थात मार्क्सवाद जो कि सुसमन्वित ज्ञान (coordinated knowledge) या समग्र विज्ञान (comprehensive science) के रूप में विकसित हो चुका है, उसे विशेष-विशेष क्षेत्र में, विशेष-विशेष देश की ठोस परिस्थितियों में, विशेष-विशेष द्वन्द्व के परिप्रेक्ष्य में प्रयोग करना होगा और इसी प्रक्रिया के जरिये मार्क्सवाद की अवधारणाओं को निरंतर समृद्ध करते जाना होगा। हमें याद रखना चाहिए कि मार्क्सवाद सिर्फ एक राजनैतिक या आर्थिक दृष्टिकोण ही नहीं है, बल्कि यह एक विश्व दृष्टिकोण (world outlook) है और यह क्रिया का मार्गदर्शक (guide to action)भी है। अत: मैं समझता हूं कि यह विज्ञान द्वारा परीक्षित सत्य है। दुनिया में ऐसी कोई समस्या नहीं है, जो मार्क्सवाद के दायरे में न आती हो या जिसका मार्क्सवादी दृष्टिकोण की सहायता से समाधान न किया जा सके। अत: मैं फिर कहता हूं कि मार्क्सवादी विचार पद्धति अपनाने का काम निहायत जरूरी है।

सत्य को जानने का उपाय

अब सत्य को हम कैसे जानें, इसके बारे में कुछ बातों को रखना जरूरी है। सत्य को जानने के मामले में क्या हम किसी व्यक्ति विशेष, चाहे वह जितना भी प्रतिभावान क्यों न हो, उसकी व्यक्तिगत अनुभूति या बुद्धिमत्ता पर निर्भर करेंगे या हम परीक्षण-निरीक्षण, इतिहास और तर्क विज्ञान को औजार बनाकर चलेंगे? मेरे ख़याल से यह एक अहम सवाल है। मनुष्य का अनुभव बताता है कि परीक्षण-निरीक्षण और विज्ञान पर निर्भर करना ही हमारे लिए सही होगा, क्योंकि इसमें गलती की बहुत ही कम गुंजाइश है और इस मामले में अगर कोई गलती हो

भी जाती है तो परीक्षण-निरीक्षण के जरिये ही एक न एक दिन वह गलती पकड़ी जायेगी। इसलिए गलती होने पर गलती को सुधार लेने का रास्ता भी यही है। लेकिन अगर व्यक्ति-चिंतन या व्यक्ति प्रतिभा पर निर्भर करके चलते हैं तो न केवल गलती होने की गुंजाइश ज्यादा रहती है, बल्कि व्यक्तिगत समझदारी के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष को कभी भी चुनौती का सामना करना पड़ सकता है। क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष का चिंतन, यहां तक कि किसी मनीषी का चिंतन भी असल में व्यक्तिगत चिंतन या व्यक्ति के निजी विश्वास के सिवा और कुछ नहीं होता है। इस मामले में किसी व्यक्ति विशेष के चिंतन को सत्य के रूप में स्वीकार करने में मुसीबत यह है कि उसके चिंतन और किसी दूसरे व्यक्ति विशेष के चिंतन में सीधा विरोध दिखाई दे सकता है। ऐसी हालत में यह सवाल उठता है कि फिर हम सत्य को कैसे जानें? ऐसी स्थिति में, तब मनमाने ढंग से जबरन अपना विचार थोपने के सिवा और किसी निष्कर्ष पर पहुंचना भी हमारे लिए संभव नहीं है, सत्य को जानना तो दूर की बात रही। इसलिए, हम व्यक्ति-चिंतन पर आधारित ऐसी बहुत-सी विचारधाराएं इतिहास में पाते हैं जो कि अंधविश्वास के सहारे टिकी हुई हैं या कभी-कभी समाज पर जबरन थोपी हुई हैं।

हम सभी जानते हैं कि विभिन्न विषयों पर समाज के असंख्य लोगों की भिन्न-भिन्न तरह की समझदारी होना अस्वाभाविक कतई नहीं है। चूंकि एक विषय के बारे में एक समय सत्य तो केवल एक ही होता है, लेकिन उस सत्य के बारे में लोगों की समझदारी भिन्न-भिन्न हो सकती है। चूंकि सभी लोगों का मानसिक गठन और सोचने का ढंग एक जैसा नहीं होता है, इसलिए सत्य से संबंधित उनकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न होना लाजिमी है जबकि किसी भी विषय के बारे में एक समय सत्य एक ही होता है। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि इस तरह वैयक्तिक चिंतन के प्रवक्ता यह मानते हैं कि उनके अपने-अपने क्षेत्र में हरेक की ही भावना-धारणा, सोच सत्य है और जन-कल्याण और सामाजिक प्रगति में विशेष भूमिका निभा रही है। अत: आप समझ ही पा रहे हैं कि इन सब विषयों के बारे में अगर आपको एक सही और साफ धारणा निर्मित करनी है तो

आपको मामले की और भी गहराई में जाना होगा। यानी किन-किन सामाजिक परिस्थितियों में और किस-किस कारण से विभिन्न विचारधाराएं पैदा हुईं और उन सब विचारधाराओं ने समाज में क्या-क्या भूमिका अदा की थी और क्यों बाद में वे सब धारणाएं समय गुजरने के साथ-साथ अनुपयुक्त और अकार्यकारी हो गयीं—ये सब बातें वास्तविकता की कसौटी पर कसकर आप सभी को जाननी-समझनी होंगी। लेकिन एक बात पर आपको कोई भ्रम नहीं रहना चाहिए कि एक विशेष विषय के बारे में सत्य सिर्फ एक ही हो सकता है। एक सत्य की अपेक्षा एकाधिक या बहुतेरे सत्यों की अवधारणा केवल कपोल कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। एक ही मामले में, एक ही परिस्थिति में सभी भिन्न-भिन्न मत सच हों—ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह समझने के लिए बहुत ज्यादा ज्ञान की जरूरत नहीं है। लेकिन यह वास्तविकता है कि कई ज्ञानी-गुणी और नामी-गिरामी लोगों ने सत्य के बारे में सत्य की बहुलता के सिद्धांत (plurality) की वकालत की है।

मान लीजिए हम बिजली की ऊर्जा का इस्तेमाल करके रोशनी करना चाहते हैं या पंखा चलाना चाहते हैं। बिजली का वैज्ञानिक सिद्धांत एक ही है, वह भिन्न-भिन्न देश की भिन्न-भिन्न परम्पराओं के कारण अलग-अलग नहीं हो सकता। बिजली के इंजीनियर विद्युत ऊर्जा संबंधी वैज्ञानिक नियमों को जान रहे हैं और जानकर उसे प्रयोग में ला रहे हैं—तब रोशनी होती है, पंखा चलता है। यदि कोई विद्युत ऊर्जा संबंधी वैज्ञानिक नियमों को अस्वीकार करे और अपने मनगढ़ंत सिद्धांत से कुछ करना चाहे, तो वह सफल नहीं हो सकता। इस क्षेत्र में यहां तक कि वह बिजली का झटका लगने से मर भी सकता है। इसलिए मैं कह रहा था कि वैज्ञानिक विषयों में इस तरह का तर्क नहीं चल सकता है। विज्ञान में परीक्षित व प्रमाणित सत्य ही एकमात्र सत्य होता है। हम प्रमाणित सत्य तक तभी पहुंच सकते हैं, जब हम विज्ञान पर निर्भरशील रहें। इसलिए सत्य को सही रूप में जानना है तो विज्ञान सम्मत जो युक्ति-तर्क की धारा है, उस धारा को हमें अवश्य ही अपनाना होगा। (We must submit to reason)

विज्ञान के सिद्धांतों के बारे सही समझदारी

हम जानते हैं कि विज्ञान की प्रगति एक जगह ठहरी नहीं रह सकती। विज्ञान की लगातार प्रगति हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी। फिर वस्तु जगत भी निरंतर परिवर्तित हो रहा है। इसलिए आज हम जिन सब यंत्रों के सहारे वस्तु को लेकर परीक्षण-निरीक्षण कर रहे हैं, वस्तु को जानना चाह रहे हैं, वे सारे यंत्र व परीक्षण पद्धतियां भी निरंतर उन्नत से उन्नततर हो रही हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रक्रिया से हम आज जो ज्ञान हासिल कर रहे हैं उसके बारे में हम लोगों की समझ या अवधारणाएं भी निरंतर परिवर्तित और समृद्ध हो रही हैं, वे भी एक जगह स्थिर नहीं रह सकतीं। क्योंकि एक विशेष समय में इंसान के हाथों में परीक्षण-निरीक्षण करने के जिस प्रकार के उपकरण और तरीके उपलब्ध हुए हैं उनका प्रयोग करके ही इंसान सत्य को जानता रहा है या जानने का प्रयास करता रहा है जिसे हम परीक्षित सत्य कहते हैं। अत: ऐतिहासिक कारण से ही परीक्षण के उपकरणों और परीक्षण पद्धतियों की विभिन्न प्रकार की सीमाबद्धताओं के कारण पहले के एक विशेष समय में प्राप्त ज्ञान, बाद के समय में परीक्षण के उन्नत उपकरणों व परीक्षण पद्धतियों से प्राप्त ज्ञान की तुलना में अपर्याप्त व अधूरा लग सकता है। लेकिन याद रखें, इस कारण से अतीत के ज्ञान को कदापि गलत नहीं कहा जा सकता। अंतर केवल यही है कि हम अतीत की सीमाबद्धताओं को पार कर सके हैं, इसलिए उस विषय के बारे में उन्नत एवं समृद्ध निष्कर्षों पर पहुंच पाये हैं। इसी प्रक्रिया में हमारी अवधारणाएं निरंतर उन्नत एवं समृद्ध होती जा रही हैं। यहां याद रखने की बात यह है कि परीक्षण द्वारा प्रमाणित पहले वाले निष्कर्ष को केवल बाद के परीक्षित निष्कर्ष के द्वारा ही परिवर्तित किया जा सकता है न कि किसी व्यक्ति के मनमाने चिंतन के आधार पर। इसी प्रकार ज्ञान जगत विकसित हो रहा है और ज्ञान में लगातार इजाफा हो रहा है। विज्ञान की रोशनी में विश्लेषण करने पर यह देखने को मिलेगा कि इस प्रक्रिया में मार्क्सवाद के निष्कर्ष भी लगातार समृद्ध होते जा रहे हैं।

हमें समझना होगा कि वस्तु जगत और प्राकृतिक विज्ञानों के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन की धारणाएं जिनकी मैंने अभी चर्चा की,

ठीक एक ही तरह से सामाजिक क्षेत्र में भी लागू होती हैं। क्योंकि समाज में भी हर पल परिवर्तन हो रहा है और प्रतिदिन नयी-नयी समस्याएं पैदा हो रही हैं। समाज में लगातार जीवन को केन्द्रित करके नीति-नैतिकता, आचार-व्यवहार, राजनैतिक आंदोलनों, आर्थिक वितरण व्यवस्था, वैज्ञानिक खोज, अस्तित्व के लिए संघर्ष आदि सब कुछ के बारे में प्रतिदिन समाज में नये-नये सवाल और समस्याएं उभरकर आ रही हैं। यही वजह है कि मार्क्सवादी विज्ञान को भी लगातार विकसित और समृद्ध करने की जरूरत पैदा होती रहती है। इसलिए जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति करता जा रहा है, सदा जिन्दगी की रफ्तार के साथ कदम से कदम मिलाते हुए मार्क्सवाद को भी वैसे-वैसे लगातार विकसित व समृद्ध करते जाना होगा।

सत्य के रूप और अस्तित्व के बारे में दो-एक और पहलुओं पर चर्चा करना जरूरी है। मैं पहले ही कह चुका हूं कि सत्य का अस्तित्व हमारे जानने या न जानने पर निर्भर नहीं करता है और किसी वस्तु विशेष या घटना-परिघटना के बारे में सत्य सिर्फ एक ही होता है। सत्य को जानने का अर्थ क्या है? आम तौर पर सत्य को जानने का मतलब है इस दुनिया के बारे में, भौतिक जगत, विभिन्न घटना-परिघटनाओं और जीवन के बारे में सही समझदारी हासिल करना। लेकिन यहां यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि सत्य के अस्तित्व का मतलब ही है ठोस सत्य अर्थात वह विशेष रूप में अस्तित्वमान है। अत: सत्य का मतलब ही है ठोस और विशेष सत्य (concrete and particular truth)। किसी निर्विशेष या शाश्वत सत्य की अवधारणा कपोल कल्पना मात्र है। सत्य इस अर्थ में विशेष सत्य है कि सत्य का अस्तित्व विभिन्न घटना-परिघटनाओं के घात-प्रतिघात में, वस्तु के क्रियाकलापों में ही अस्तित्व में है। अर्थात, चाहे पदार्थ का सूक्ष्म कण हो या विशेष कोई घटना-परिघटना हो, इसके अस्तित्व का मतलब है कि यह विशेष परिस्थिति में अस्तित्वमान है। अत: वस्तु का अस्तित्व जहां ठोस और विशेष है वहां सत्य भी ठोस और विशेष सत्य होना लाजिमी है। वैज्ञानिक परीक्षण-निरीक्षण की मदद से या इतिहास की कसौटी पर जांच-परख करके ही आपको सत्य के बारे में विशेष अवधारणा निर्मित करनी

होगी। सत्य के बारे में आपकी अवधारणा जितनी ज्यादा ठोस होगी, आप उतना ही ज्यादा सृजनशील, क्रियाशील होंगे और समस्याओं की गहराई से छानबीन करने की योग्यता हासिल करेंगे। इसके विपरीत, सत्य के बारे में आपकी अवधारणा जितनी ही सतही-छिछली होगी उतनी ही वह अकार्यकारी होगी।

यहां एक बात और याद रखनी चाहिए कि परिस्थितियां बदलने से सत्य भी बदल जाता है। इसलिए किसी विशेष विषय से संबंधित सत्य की अवधारणा भी बदल जाती है। इसलिए शाश्वत सत्य (absolute truth) की अवधारणा सही नहीं है, तर्कसंगत नहीं है। ऐसा नहीं कि सत्य है ही नहीं, लेकिन ऐसा कुछ नहीं है जिसे शाश्वत या निर्विशेष सत्य कहा जाये। शाश्वत सत्य की अवधारणा बिल्कुल झूठी है, यह जीवन में सत्य की खोज को दिग्भ्रमित कर देती है। यह समझना चाहिए कि सत्य जहां विशेष सत्य होता है, शाश्वत या निर्विशेष सत्य जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं है, वैसे ही याद रखें, सदा परिवर्तनशील इस जगत में सत्य की अवधारणा सापेक्ष सत्य (relative truth) के रूप में है। इसलिए सत्य की क्षमता अजेय है। जब तक हम वस्तु के बारे में सत्य की सही अवधारणा नहीं बना लेते, तब तक हमारे पास अंधेरे में ही हाथ-पैर मारने के सिवा और कोई विकल्प नहीं रहेगा। आप जो समाज को बदलना चाहते हैं, दुनिया को बदलना चाहते हैं, इस पूंजीवादी शोषण की चक्की से मुक्ति पाना चाहते हैं, उन्हें जिंदगी भर सत्य की साधना करनी होगी। याद रखें कि इसी वजह से शोषित-पीड़ित जनता के मामले में सत्य की साधना का सवाल भी निहायत जरूरी है, क्योंकि सत्य अजेय और निर्णायक सत्य होता है। दूसरी तरफ एक-एक विशेष क्षण का सत्य किसी विशेष-विशेष विषय के बारे में पूर्ण सत्य होता है—अपूर्ण या अस्पष्ट सत्य के लिए यहां कोई स्थान नहीं होता है।

एक और बात आपको यह याद रखनी होगी कि दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं है जो जाना न जा सके, जो अज्ञेय हो। विज्ञान का मानना है कि दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे इंसान कभी भी जान नहीं सकेगा। नहीं, ऐसा कुछ नहीं है जो मनुष्य के जानने से

परे है या मनुष्य जिसे कभी जान नहीं पायेगा। जहां यह बात सही है, वहीं इस बात का मायने यह भी नहीं है कि किसी खास समय में मनुष्य सब कुछ जान सकता है। वास्तविकता यह है कि विज्ञान और मार्क्सवाद जैसे हर दिन नयी-नयी समस्याओं का उत्तर देते जा रहे हैं, फिर परिवर्तनशील इस दुनिया में जहां हर चीज के अंदर हर पल परिवर्तन हो रहा है, वहां हर पल उसके सामने कुछ न कुछ सवाल अज्ञात रह जाते हैं। यद्यपि सभी कुछ ज्ञेय है और एक न एक दिन उसे हम जान भी लेंगे, लेकिन बात ऐसी भी नहीं है कि किसी एक समय-विशेष में सभी कुछ जाना जा सकता है। यह स्वाभाविक बात है। परिवर्तनशील इस जगत में यही स्वाभाविक नियम है। ज्ञात और अज्ञात का यह द्वन्द्व-संघर्ष हमेशा चलता ही रहेगा। इस द्वन्द्व के चलते ही जानने की भी कोई सीमा नहीं है। ज्ञान की खोज कहीं भी जाकर रुक नहीं सकती है। जिस चीज के बारे में पहले जानकारी नहीं थी, उस सवाल का जवाब मिलते ही बहुत सारे नये अनजाने सवालों का इंसान के आगे तांता लग जाता है। इसी तरह से ही समाज, सभ्यता, ज्ञान और विज्ञान की प्रगति होती जा रही है।

तब आप देख रहे हैं कि इस नित्य परिवर्तनशील जगत में कोई भी सत्य सदा-सदा के लिए स्थिर या शाश्वत सत्य नहीं हो सकता है। अर्थात ऐसा कुछ नहीं हो सकता जिसे चिरंतन सत्य या शाश्वत सत्य कहा जा सके। इस प्रसंग का मैं नये सिरे से जिक्र इसलिए कर रहा हूं कि यह बात सुनने के बाद विज्ञान के कुछ विद्यार्थी पूछ सकते हैं कि तब विज्ञान के क्षेत्र में बहुत सारी जगह जो स्थिरांक (constant) का जिक्र पाया जाता है, उनका क्या मतलब है? तब इन स्थिरांकों के बारे में सही धारणा क्या होगी? स्थिरांक कहने का मायने यह है कि एक स्थिरांक एक विशेष समय में, एक विशेष स्थान पर, एक विशेष क्षेत्र (domain) में, एक विशेष परिघटना के मामले में (at a given time, space, field and in the case of a given phenomenon it is constant) यह स्थिरांक होता है, इससे ज्यादा और कुछ नहीं होता। विज्ञान के छात्र इस दृष्टिकोण के आधार पर प्राकृतिक विज्ञानों से विभिन्न उदाहरणों को अगर जांचे-परखेंगे तो इसका अर्थ एवं तात्पर्य वे खुद ही समझ जायेंगे।

विज्ञान और मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धांतों को छोड़ा नहीं जा सकता

अब एक बार फिर से वस्तु जगत और सामाजिक जीवन की परिवर्तनशीलता के सवाल पर वापस आया जाये। आप लोग पहले ही यह सुन चुके हैं कि वस्तु जगत और समाज के परिवर्तन के नियमों को जानने के क्रम में विज्ञान और मार्क्सवाद के विचार और अवधारणाएं लगातार परिवर्तित, विकसित और समृद्ध हो रही हैं। यह एक वस्तुनिष्ठ सत्य है और इसे नकारने का सवाल ही नहीं उठता है। लेकिन आपको ध्यान रखना होगा कि विज्ञान और मार्क्सवाद के क्षेत्र में कुछ ऐसे विशेष सिद्धांत, अवधारणाएं हैं, जो आधारभूत या मौलिक सिद्धांतों (fundamentals or basic tenets) के तौर पर मान्य हैं। बहुत दिनों के अन्वेषण, परीक्षण-निरीक्षण और अनुभव के आधार पर ही ये विज्ञान के मौलिक सिद्धांतों के रूप में स्वीकृत हो चुके हैं। वस्तु (matter) का द्रव्यमान (mass) होता है, ऊर्जा (energy) होती है और वस्तु कण चाहे जितने भी सूक्ष्म हों, वे कोई न कोई स्थान घेरते हैं या किसी न किसी समय में होते हैं। अर्थात्, किसी न किसी स्थान-काल (space -time) में अवस्थित होते हैं और हर वस्तु हर समय परिवर्तनशील है तथा ये परिवर्तन नियमबद्ध ढंग से होते हैं—वस्तु के चरित्र के बारे में आज ये सब जो मौलिक अवधारणाएं निर्मित हुई हैं, इन्हें विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी नकार नहीं सकता। अगर विज्ञान की तरक्की के नाम पर या किसी अन्य कारण से कोई इन सब मौलिक अवधारणाओं को नकारना चाहे, तो हमें यह कहना ही पड़ेगा कि इस तरह का चिंतन विज्ञान-विरोधी है और विज्ञान से उसका कोई लेना-देना नहीं है।

फिर जैसा कि हम सभी जानते हैं कि इतिहास के एक खास दौर में, एक विशेष चरण में पहुंचकर समाज वर्ग-विभाजित हुआ और सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के क्रम में ऐतिहासिक कारण के चलते ही इस वर्ग-विभाजन के रूप और चरित्र में बहुत सारे बदलाव आये हैं। सामाजिक व्यवस्थाओं के अंतर के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थितियों में इस वर्ग-विभाजन का रूप जो भी रहा हो, वर्ग-विभाजित समाज में वर्गों के बीच द्वन्द्व मिट नहीं सकता। ऐतिहासिक भौतिकवाद का यह मौलिक निष्कर्ष है। दुनिया बदल रही है—इस बात का उल्लेख

करके अब अगर कोई मार्क्सवादी नेता यह दलील दे कि कोई समाज वर्ग-विभाजित समाज होने के बावजूद, उसमें वर्ग-संघर्ष का नियम काम नहीं करता है और इसलिए उस समाज में कोई वर्ग-संघर्ष नहीं है–तब ऐसी अवधारणा को किसी भी तरह सही मार्क्सवादी चिंतन नहीं माना जा सकता। परिवर्तनशीलता के नाम पर पेश किये जाने पर भी यह सोच मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धांतों की विरोधी है।

समाज में प्रचलित बहुत सारे विज्ञान-विरोधी विचारों के फलस्वरूप या शोषक वर्गों के हित में वैज्ञानिक चिंतन को प्रभावित करने में सक्षम होने पर भी जिस तरह विज्ञान की प्रगति सामयिक तौर पर ही सही क्षतिग्रस्त या अवरुद्ध हो जाती है, उसी तरह मार्क्सवाद के विकास के इतिहास में भी ऐसे झटके लगने की घटनाएं देखने को मिली हैं। विभिन्न देशों में जो लोग मार्क्सवादी के रूप में जाने जाते हैं, वे मार्क्सवादी दर्शन या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सही समझदारी हासिल कर पा रहे हैं कि नहीं, अपनी जिन्दगी में इस विज्ञान को सही-सही ढंग से लागू कर पा रहे हैं या नहीं, चिंतन की सही प्रक्रिया और आंदोलन की सही प्रक्रिया का अनुसरण कर पा रहे हैं या नहीं–इसी पर निर्भर करता है कि मार्क्सवादी आंदोलन कितना तेज होगा या उसकी प्रगति में रुकावट पैदा होगी।

किसी व्यक्ति की पसन्द-नापसन्द का मामला नहीं है मार्क्सवाद का अध्ययन-अनुशीलन

मार्क्सवाद के बारे में हमारी अवधारणाएं बिल्कुल स्पष्ट होनी चाहिए। मार्क्सवाद या क्रांतिकारी जिन्दगी अपनाने के बारे में किसी का दृष्टिकोण ऐसा नहीं होना चाहिए कि वह इसलिए मार्क्सवादी है, क्योंकि मार्क्सवाद उसे पसन्द है या यह उसका शौक है। जैसे कोई खेल पसन्द करता है इसलिए वह खिलाड़ी बन जाता है। किसी को चिकित्सक का पेशा अच्छा लगता है, इसलिए वह चिकित्सक बन जाता है। ऐसे ही जो इंजीनियर या प्रोफेसर बनना चाहता है, वह इंजीनियर या प्रोफेसर बन जाता है। उसी तरह किसी को मार्क्सवाद पसन्द है या वह मार्क्सवाद के प्रति आकर्षित है, इसलिए वह मार्क्सवादी बन जाये–इस तरह से सोचना गलत होगा। जाने-अनजाने

इस तरह सोचना मार्क्सवाद और क्रांतिकारी राजनीति का जो अपार महत्त्व है, उसे जड़ से कमजोर कर देता है और मार्क्सवाद को भी दूसरे पेशों के बराबर बना देता है। बात ऐसी नहीं है कि हमारे सामने बहुत से विकल्प मौजूद हैं और उनमें से मार्क्सवाद को भी हमने एक विकल्प के रूप में चुन लिया है।

एक और पहलू से इस विषय को मैं आपके सामने रखना चाहता हूं। इस समाज में चाहे कोई आदमी वैज्ञानिक हो या साहित्यकार, खिलाड़ी, चिकित्सक, इंजीनियर हो या प्रोफेसर, जो भी हो, वह समाज का ही एक अंग है। इस समाज से संबंध रखे बगैर वह नहीं रह सकता। यह जो शोषणमूलक समाज व्यवस्था है, वह इसी समाज का एक नागरिक है। अब सवाल है कि इस समाज का एक सदस्य होने के नाते मूल्यबोध के बारे में उसकी अपनी अवधारणा क्या है? इस बारे में उसकी सोच क्या है? क्या कभी वह सोचता है कि जो अवधारणा लेकर वह चल रहा है, उसकी जिन्दगी में मूल्यबोध की जो झलक हर वक्त मिल रही है—इन सबकी प्रतिक्रिया समाज के अंदर और उसकी अपनी जिन्दगी में क्या होती है? उसका तात्पर्य क्या है? क्या वह इस बारे में सचेत है? ऐसा नहीं हो सकता कि उसकी सोच-समझ के जरिये समाज में कोई प्रतिक्रिया ही पैदा नहीं हो रही हो। वह चाहे या न चाहे, उसके कार्यकलापों और आचरण से, समाज में उसके अवस्थान से कुछ न कुछ प्रतिक्रिया पैदा होना लाजमी है। या तो वह दूसरे के हाथों में औजार या कठपुतली की तरह इस्तेमाल हो रहा है और खुद को हर पल गुमराह कर रहा है, या फिर शोषण के आधार पर खड़ी इस सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ वह कुछ न कुछ संघर्षशील भूमिका निभा रहा है। इन दोनों में से कोई एक काम वह कर रहा है। ऐसा नहीं हो सकता कि वह कुछ भी नहीं कर रहा हो। अगर वह इस बारे में सचेत नहीं है और सोचता है कि वह इस मामले में कोई भूमिका ही नहीं निभा रहा है, तो यह कपोल कल्पना मात्र होगी। आज की इस शोषणमूलक व्यवस्था में, वर्ग-विभाजित समाज में कोशिश करने पर भी कोई व्यक्ति अपने को अछूता नहीं रख सकता। खिलाड़ी होने के नाते कोई ऐसा सोच सकता है कि वह तो खेल-कूद में ही व्यस्त रहता है, इसलिए समाज के शोषण-उत्पीड़न

से उसका क्या संबंध है। लेकिन थोड़ी गहराई से सोचने से ही वह समझ सकेगा कि समाज के हर मामले से हर आदमी जुड़ा हुआ है। किस तरह से जुड़ा हुआ है, इसे हर आदमी को समझने की कोशिश करनी होगी। क्या किसी बहाने से कोई भी आदमी इसकी अवहेलना कर सकता है? बेशक यह बात सही है कि अगर कोई खुद न चाहे तो जबरन उसे कोई बात न तो समझायी जा सकती है और न ही जबरदस्ती उससे कोई काम कराया जा सकता है। यह सवाल ही नहीं उठता। लेकिन हर आदमी को यह जानकारी होनी चाहिए कि अनजाने में भी कोई आदमी अपने काम की वजह से ऐसी ताकत को मदद पहुंचा रहा है, जो इस शोषण पर आधारित व्यवस्था को टिकाए रखने के काम में लगी है। कोई यह सोच सकता है कि वह तो अपना स्वतंत्र चिंतन लेकर चल रहा है, इसमें दूसरों को दखल देने का क्या हक है? लेकिन थोड़ा-सा ध्यान देने पर ही वह इस बात का पता लगा सकता है कि इतिहास में मनुष्य ने जो भूमिका अदा की है, इस तरह के चिंतन द्वारा असल में वह उसे ही नकार रहा है। क्योंकि, यह बात सभी जानते हैं कि मनुष्य का प्राणी जगत के दूसरे जीव-जन्तुओं से यही फर्क है कि दूसरे जीव जहां प्राकृतिक नियमों के गुलाम हैं, परिवेश जैसा उनको संचालित करता है वैसे ही वे चलते हैं। लेकिन इस क्षेत्र में मनुष्य ही एक अपवाद है। मनुष्य ने प्रकृति का गुलाम बनकर रहना स्वीकार नहीं किया और रहा भी नहीं। उसने प्रकृति पर जीत हासिल करने का प्रयास किया, प्रकृति के नियमों को जानकर उन्हें मानव कल्याण के लिए इस्तेमाल किया और समाज व सभ्यता को और ज्यादा बेहतर बनाने के काम में लगाया। समाज व सभ्यता के विकास के क्रम में जिस तरह उसने भौतिक (material) उत्पादन किया, उसी तरह भावगत (spiritual) उत्पादन भी किया। इसलिए समाज में मनुष्य के जन्म लेने का बहुत बड़ा तात्पर्य है। सचमुच ही मनुष्य का जीवन बहुत ही मूल्यवान है। इसलिए मैं कह रहा था कि मनुष्य रूप में पैदा होने के बावजूद, क्या कोई जीवन के मूल्यों को अस्वीकार कर सकता है? तब तो, एक मनुष्य को मनुष्य बनने की कोई जरूरत ही नहीं होती। इसलिए चाहे कोई खिलाड़ी हो, इंजीनियर हो या जो भी क्यों ना हो, उसे जीवन की मूल समस्याओं को समझना

ही होगा और समस्याओं को समझने के लिए मार्क्सवाद हमारे लिए अत्यावश्यक है, अपरिहार्य है।

मानव चेतना से परे है भौतिक जगत का अस्तित्व

दर्शन के और भी बहुत सारे विषय हैं, जिनके बारे में भी आपकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। जैसे यह भौतिक जगत क्या मानव मन के अस्तित्व पर निर्भर है? अर्थात क्या इस भौतिक जगत का अस्तित्व इसलिए है कि हम इसे मानते हैं? या भौतिक जगत या वस्तु जगत का अस्तित्व हमारी चेतना से परे है (independent of human consciousness) ?–इस सवाल का सही जवाब पाना है, तो हमें विज्ञान पर निर्भर करना होगा। इस बात को नकारा नहीं जा सकता। इतिहास व विज्ञान के द्वारा यह संदेहातीत रूप से सिद्ध हो चुका है कि इस विश्व ब्रह्मांड के क्रमिक विकास (cosmic evolution) के रास्ते विशेष-विशेष स्तर पर पहले पहल प्राण का स्पंदन हुआ, फिर विभिन्न वनस्पतियों और विभिन्न जीव-जन्तुओं का सृजन हुआ और उसी क्रम में मनुष्य अपने मस्तिष्क के साथ आया। कितनी सारी निर्जीव वस्तुएं–जिन्हें खासकर हम अजैव प्रदार्थ (inorganic matter) कहते हैं–परिवर्तन के एक लम्बे क्रम में विकसित होते हुए अनुकूल परिस्थिति के एक विशेष स्तर में पहुंचकर जैव पदार्थ (organic matter) में तब्दील हुईं। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि हर जैव पदार्थ एक सजीव वस्तु है। इस बारे में सही धारणा यह है कि परिवर्तन और विकास के लम्बे कालक्रम में मूलत: जैव और अजैव पदार्थों के मेल से सजीव वस्तु कण या जैव कोशिका की सृष्टि हुई और इन जैव कोशिकाओं के परिवर्तन की लम्बी प्रक्रिया में एक-एक समय विभिन्न जीवदेहों की रचना हुई। फिर जीवदेहों के विकास के लम्बे क्रम से गुजरकर मानव शरीर का आविर्भाव हुआ। मानव शरीर की सबसे बड़ी खूबी है उसके मस्तिष्क की बनावट, क्योंकि मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट में ही उसकी चिंतन करने की क्षमता समाहित है। मनुष्य और दूसरे जीवों के बीच यही बुनियादी फर्क है। वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण से मानव शरीर और विशेषत: विस्तारित व विकसित प्रमस्तिष्कीय

प्रांतस्थ भाग (enlarged and developed cerebral cortex) सहित मानव मस्तिष्क की बनावट को हम जान चुके हैं और इन सब कुछ को मिलाकर मानव मस्तिष्क ने एक ऐसी क्षमता हासिल कर ली है, जिसे अंग्रेजी में कहा जाता है–(power of translation of human brain)। यही वह शक्ति है जिससे मनुष्य चिंतन करने में समर्थ हुआ और इस तरह मानव मन का आविर्भाव हुआ। इस तरह आपने देखा कि वस्तु के परिवर्तन और रूपान्तरण के लम्बे क्रम से गुजरकर निर्जीव वस्तु से प्राण की संभावनापूर्ण वस्तु और फिर उससे सजीव वस्तु और उसी रास्ते चलते-चलते दुनिया में विभिन्न जीव-जन्तुओं का सृजन हुआ।

जब हम वस्तु जगत के परिवर्तन की बात करते हैं और वास्तव में किसी भी परिवर्तन की धारा की बात करते हैं, तब इसे अगर सही ढंग से समझना है तो हमें कुछ प्रासंगिक विषयों को अच्छी तरह समझना होगा। हमें समझना होगा कि वस्तु जगत में परिवर्तन दो तरह से हो रहा है। पहला यह कि परिवर्तन हर पल हो रहा है। वस्तु का हर पल होने वाला परिवर्तन सामान्यत: हमें खाली आंखों से दिखाई नहीं देता। वस्तु में हर पल होने वाले परिवर्तन को क्रमिक परिवर्तन, धीरे-धीरे होने वाला परिवर्तन या मात्रात्मक परिवर्तन इत्यादि कहते हैं, जिसे अंग्रेजी में evolutionary, gradual, slow या quantitative change कहा जाता है। वस्तु जगत में दूसरी किस्म का भी परिवर्तन होता है, जो पहले के परिवर्तन की ही परिणति होता है। धीरे-धीरे, मात्रात्मक परिवर्तन के क्रम में वस्तु के परिवर्तन का रूप और चरित्र एक ऐसे स्तर में पहुंच जाता है कि जब वस्तु के उस परिवर्तन को न केवल आसानी से महसूस किया जा सकता है, बल्कि उसे देखने-समझने में कोई असुविधा नहीं होती है। इस दूसरे किस्म के परिवर्तन को कहा जाता है, अचानक परिवर्तन, क्रांतिकारी परिवर्तन, आमूल-चूल या गुणात्मक परिवर्तन– जिसे अंग्रेजी में abrupt, revolutionary या qualitative या radical change कहा जाता है। वैज्ञानिक शब्दावली में इन दोनों तरह के परिवर्तनों को कभी-कभी क्रमश: निरंतर (continuous) और अनिरंतर परिवर्तन (discontinuous change) भी कहा जाता है। वस्तु का यह गुणात्मक

परिवर्तन तब होता है, जब मात्रात्मक परिवर्तन के क्रम में वस्तु एक संक्रमणकालीन चरण (transitional stage) या चरम बिन्दु (nodal point) पर पहुंच जाती है। इसलिए परिवर्तन को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें इन दोनों तरह के परिवर्तनों को समझना होगा।

यह बात सभी जानते हैं कि चार्ल्स डार्विन ने अपने क्रम-विकास के सिद्धांत के द्वारा जीव या जीव-जगत के परिवर्तन की व्याख्या की थी। मार्क्स और एंगेल्स दोनों ने ही डार्विन की इस खोज को अत्यंत महत्त्व के साथ देखा था। जीव की उत्पत्ति या जीव जगत के विकास के क्षेत्र में डार्विन के क्रम-विकास के सिद्धांत ने उन दिनों की भाववादी सोच की जड़ों पर जिस तरह गहरा आघात किया था, उसका स्वागत किया था। बाद में विज्ञान के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण प्रगति हुई है, उससे डार्विन की यह खोज सही साबित हुई है। यदि हम इस वैज्ञानिक निष्कर्ष को मद्देनजर रखें तो अजैव पदार्थ से जैव पदार्थ, जैव पदार्थ की विकास की प्रक्रिया में प्राण की सम्भावना से भरपूर पदार्थ और उन पदार्थों के मिलन के जरिये जीव या जीव जगत की उत्पत्ति के विषय को मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया की सहायता से समझने में कोई मुश्किल नहीं होगी।

इस प्रसंग में एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि वस्तुनिष्ठ या जिस किसी भी क्षेत्र में द्वन्द्व-समन्वय, एकता और संघर्ष के जरिये ही लगातार परिवर्तन हो रहा है। अर्थात घात-प्रतिघात-संघात और मिलन वस्तु जगत की चारित्रिक विशेषताएं हैं। वस्तु के इस द्वन्द्व के दो रूप हैं—अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व (internal and external contradiction)। किसी भी वस्तु या किसी भी वस्तु सत्ता (entity) के अंदर जो द्वन्द्व-संघर्ष और मिलन की प्रक्रिया काम करती है, उसे अन्दरूनी द्वन्द्व कहा जाता है। फिर विभिन्न वस्तुओं के बीच जो परस्पर द्वन्द्व-संघर्ष, घात-प्रतिघात और मिलन की प्रक्रिया काम करती है, वह बाहरी द्वन्द्व कहलाता है। वस्तु के इन्हीं दोनों अन्दरूनी और बाहरी द्वन्द्वों के जरिये ही वस्तु का परिवर्तन होता है। जब मैं द्वन्द्ववाद के तीन सिद्धांतों की चर्चा करूंगा, तब मैं इन मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तनों तथा अन्दरूनी और बाहरी द्वन्द्वों के बारे भी उदाहरण देकर कुछ और चर्चा करूंगा।

भाव की उत्पत्ति कैसे हुई

अब मैं आपके सामने एक और विषय पर चर्चा कर रहा हूं। दर्शन के क्षेत्र में लम्बे अर्से से काफी चर्चा-बहस चली आ रही है कि भाव पहले आया या वस्तु। अर्थात इन दोनों में से कौन प्राथमिक (prior) है? लेकिन प्राथमिकता (priority) के इस सवाल का विज्ञान द्वारा आज सदा-सदा के लिए संदेहातीत रूप में समाधान हो चुका है। यह बात आज निर्विवादित रूप से साबित हो चुकी है कि वस्तु चेतना से निरपेक्ष रूप में अस्तित्वमान है। हम यह भी जान पाये हैं कि power of translation की अपनी विशेष क्षमता लिये हुए मानव मस्तिष्क पंच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाहरी दुनिया और वस्तुनिष्ठ परिवेश के साथ अन्तर्क्रिया करता है, जिसके आधार पर ही चिंतन और भाव पैदा होते हैं। तब मन (mind) क्या है? मन मानव मस्तिष्क की एक विशेष तरह की क्रिया है (Mind is a particular function of the human brain)। अथवा यह कहा जा सकता है कि Objective world, by the process of interaction with the human brain and being translated into human reasoning, is affecting the human mind. अर्थात मनुष्य के मस्तिष्क की खास बनावट के जरिये जो पैदा हुई है और वास्तविक जगत के साथ मस्तिष्क की अन्तर्क्रिया के रास्ते जो विकसित हुई है—वही है मनुष्य की चिंतन करने की शक्ति। अन्य जीव-जन्तुओं के मामले में जो होता है, वह यह है कि उनके स्नायुतंत्र या मस्तिष्क के साथ प्रकृति का घात-प्रतिघात होता है, प्रतिवर्ती क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, जिसे रिफ्लेक्स एक्शन (reflex action) कहते हैं। मनुष्य के मामले में भी यह घात-प्रतिघात, प्रतिवर्ती क्रिया-प्रतिक्रिया (reflex action) होता है। लेकिन मनुष्य के साथ इससे अलग जो चीज जुड़ी हुई है, वह है मानव मस्तिष्क की एक power of adaptebility जिसमें process of alimenation काम करती है और चूंकि उसमें power of translation है, इसलिए इसकी मदद से चिंतन या भाव (idea) का जन्म होता है। यह क्षमता या प्रक्रिया सिर्फ मानव मस्तिष्क की क्रिया में ही काम करती है। अन्य सभी जन्तु-जानवरों के भी मस्तिष्क क्रिया करते हैं, लेकिन मानव मस्तिष्क की चिंतन करने की जिस शक्ति (power of translation) का जिक्र मैंने किया है, वह उनके मामले में

काम नहीं करती है। वह सिर्फ मानव-मस्तिष्क के मामले में ही काम करती है। अर्थात सिर्फ मनुष्य का मस्तिष्क ही इस क्षमता का अधिकारी है। नतीजतन, मनुष्य ही एकमात्र जीव है जो दूसरे जीव-जन्तुओं को पीछे छोड़कर आगे निकल गया, प्रकृति पर जीत हासिल करने में सक्षम हुआ, जिस प्रक्रिया में ज्ञान-विज्ञान का सृजन हुआ, न्याय-अन्याय, नीति-नैतिकता की अवधारणा पैदा हुई और सभ्यता का विकास हुआ।

इसलिए फिर से कह रहा हूं कि वस्तु चिंतन या चेतना की उपज नहीं है। यह धारणा भी सही नहीं है कि आदिकाल से ही चिंतन-चेतना और वस्तु साथ-साथ अस्तित्वमान हैं। इतिहास इसकी गवाही नहीं देता। चिंतन या चेतना का अस्तित्व मानव के अस्तित्व के साथ ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है। अर्थात जब तक पृथ्वी के इतिहास में मनुष्य नाम का जीव अस्तित्व में नहीं आया था, तब तक चिंतन, मन और बाद में सही और गलत का बोध और नीति-नैतिकता की अवधारणाएं भी पैदा नहीं हुई थीं। इसलिए इस विचार का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है कि चिंतन या चेतना का अस्तित्व अनादिकाल से ही चला आ रहा है। जबकि बहुत से चिंतक ऐसे हैं, जो इतिहास के इस वस्तुनिष्ठ सत्य को पूरे दिलोजान से मान नहीं पाये। यहां मैं आम आदमी की बात नहीं कर रहा हूं। ऐसे बहुत सारे जाने-माने चिंतक हैं, जो विज्ञान को लेकर चलना चाहते हैं, उनको भी मानव के मन या चिंतन-मनन के विकास का यह वस्तुनिष्ठ इतिहास स्वीकार्य नहीं हुआ। उदाहरण के लिए बर्ट्रेंड रसेल, जां पाल सार्त्रे या अल्डस हक्सले सरीखी विज्ञान, दर्शनशास्त्र और साहित्य जगत की महान हस्तियां भी इस सच्चाई को पूरी तरह मान नहीं पायीं। उनके वक्तव्य की व्याख्या की जाये तो उससे यही भाव निकलता है। उन्होंने हूबहू इन्हीं शब्दों में अपनी बात कही हो ऐसी बात नहीं है–फिर भी सिर्फ मानव का यह छोटा-सा मस्तिष्क इतने बड़े विश्व-ब्रह्मांड की समस्त समस्याओं के बारे में कैसे सोच-विचार (conceive) कर सकता है? यह कैसे संभव है? सार्त्रे की बातों से ऐसी ही धारणा उभरकर आती है कि चिंतन-मनन या उसका उपादान, जिसे उन्होंने बुद्धि का मूल तत्व (an element of intellect) कहा है, वह वस्तु से जनित भी नहीं है और वस्तु से परे एवं पूर्ण रूप से वस्तु पर निर्भरशील भी नहीं है। उनके मतानुसार अनंत काल से ही

वस्तु के अंदर यह चीज चिंतन तत्व (element of thinking) के रूप में चली आ रही है। इनके इस तरह के चिंतन ने सांस्कृतिक जगत में जो भ्रांतियां पैदा की हैं, वे हमारी आज की चर्चा का विषय नहीं हैं। लेकिन यह बात सही है कि इतिहास और वास्तविकता को नकारे बिना इन चिंतकों के मत को सही मान लेने का कोई उपाय नहीं है। इसके अलावा, थोड़ा-सा विश्लेषण करने से आपको पता चल जायेगा कि इन सभी चिंतकों ने दरअसल मानव चिंतन की परम या निरपेक्ष स्वतंत्रता (absolute independence of human thinking) की अवधारणा को ही पेश करना चाहा है और चाहे अनजाने में ही सही, इस तरह की सोच से उन्होंने आजादी की बेपरवाह भावना (reckless sense of liberty) को ही तैयार करने में मदद की है। इनका नजरिया ऐसा है कि मानव चिंतन वस्तु जगत या वस्तुनिष्ठ परिस्थिति (material condition) द्वारा प्रभावित या नियंत्रित नहीं है। इसलिए मैं कह रहा था कि देखिए इतने बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यकार होने के बावजूद, चाहे अनजाने में ही सही, ये लोग कितनी आसानी से अवैज्ञानिक चिंतन का शिकार हो गये।

बहरहाल, आप हमेशा यह बात याद रखें कि समाज के अंदर जो तरह-तरह के चिंतन, विचार और अवधारणाएं जन्म लेती हैं, उनके पीछे एक वस्तुगत आधार काम करता है। अर्थात किसी भी विशेष चिंतन की उत्पत्ति के लायक जब तक उपयुक्त वस्तुगत परिस्थिति (material condition) पैदा नहीं हो जाती, तब तक समाज में उस विशेष चिंतन का जन्म भी नहीं हो सकता। इंसान जब कभी गलत चिंतन भी करता है, तब भी उसके लिए वस्तु जगत और समग्र वस्तुनिष्ठ परिस्थिति में उस गलत चिंतन के पैदा होने का कारण और अवसर निहित होता है। इसलिए वस्तु जगत या वस्तुनिष्ठ परिस्थिति से इंसान के चिंतन को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। जो यह कहते हैं कि ईश्वरीय चिंतन ही मानव के चिंतन में प्रतिबिम्बित होता है (thinking is the contemplation of God) मैं उनसे सोचने के लिए कहता हूं कि वस्तुतः मामला इसके बिलकुल विपरीत है। दरअसल मानव-मस्तिष्क ही ईश्वर के चिंतन का आधार है। चूंकि मानव-मस्तिष्क से बाहर बौद्धिक तत्व या चेतना का अस्तित्व दुनिया के इतिहास में

कभी कहीं नहीं मिलता है। समाज में जो सब चिंतन आये हैं, चाहे वे ईश्वर चिंतन हों या कोई अन्य, सही हो या गलत, इन सब चिंतनों का स्रोत है मानव का मस्तिष्क। इसलिए कहा जाता है कि मानव मस्तिष्क ही चिंतन करने का शारीरिक अंग है (human brain is the organ of thought)। इतिहास व विज्ञान से यही सत्य निकलकर आया है। इसलिए यह कहना भी सही नहीं है कि यह वस्तु जगत इसलिए विद्यमान है कि मानव ऐसा सोचता है। बल्कि वस्तु जगत के विकास और प्रगति होते-होते ही एक समय मानव-मस्तिष्क का जन्म हुआ है, जिस मस्तिष्क ने बाहरी दुनिया और वस्तुगत परिवेश के साथ अन्तर्क्रिया के जरिये यानी घात-प्रतिघात के जरिये—जो पांच ज्ञानेन्द्रियों के मार्फत संपर्क के फलस्वरूप ही संभव हुआ है—चिंतन या भाव को जन्म दिया। किसी-किसी दार्शनिक ने इसी बात को समझाते हुए कहा है कि वस्तु ही वस्तु के बारे में चिंतन कर रही है (Matter is thinking about matter)।

मानव का आदिम चिंतन था भौतिकवादी

इससे पहले अन्य कई चर्चाओं में मैंने बताया है कि आदिम मानव ने वस्तु चिंतन ही किया। निर्वस्तु या वस्तु से परे किसी भी सत्ता के बारे में वह सोचता ही नहीं था। मानव चिंतन की जब पहले पहले उत्पत्ति हुई, अर्थात जब उसने चिंतन करना सीखा, तब उसने सिर्फ वस्तु के बारे में ही चिंतन किया। वस्तु से परे किसी सत्ता के अस्तित्व के बारे में कोई भी धारणा आदिम अवस्था में आदमी की नहीं थी, होनी संभव भी नहीं थी। इसलिए मानव के आदिम चिंतन या उसकी चिंतन क्षमता के जन्म होने के शुरुआती दौर में वह वस्तु के सिवा और किसी चीज के बारे में सोच ही नहीं सकता था। इसलिए कहा जाता है कि मानव का आदिम चिंतन भौतिकवादी था—उसका रूप चाहे जो भी रहा हो। अभी विचारणीय विषय यह है कि समाज में ईश्वर की अवधारणा कैसे पैदा हुई? जो कॉमरेड्स मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बारे में ये सब चर्चाएं इससे पहले की क्लासों में सुन चुके हैं, उन्हें इस विषय में जानकारी है। लेकिन जो नये आये हैं उन्हें मद्देनजर रखते हुए ही मुझे ये सारी चर्चा फिर दोबारा करनी पड़ रही है।

इतिहास के छात्र जानते हैं कि आदिम मानव जादू-टोने, मंत्र-तंत्र (magic) का जन्मदाता था। वस्तु को वशीभूत करने के लिए, वस्तु की अज्ञात शक्ति, अनिष्टकारी शक्तियों पर काबू पाने के उद्देश्य से मानव ने आदिम अवस्था में जादू-टोने, मंत्र-तंत्र को जन्म दिया था। इतिहास से यह पता चला है कि जादू-मंत्र आदिम मानव की वस्तु को जानने की पहली कोशिश थी। इसलिए आदिम मानव के मंत्र-तंत्र (magic) को कहा जाता है 'विज्ञान की शुरुआत' या आदिम काल का विज्ञान (primitive science)। विज्ञान की शुरुआत अगर वस्तु के बारे में जानकारी हासिल करने की कोशिश से हुई थी, तब वह कोशिश आदिम मानव से ही शुरू हुई थी। उन दिनों के इस विज्ञान की मदद से आदिम मानव द्वारा वस्तु को जानना, समझना और वश में करना संभव नहीं हुआ। लेकिन इसी तरह से आदिम मानव ने वस्तु को अपने वश में लाने की कोशिश की। उस समय आदिम मानव कितनी दूर तक वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सका या नहीं—यह अलग सवाल है। लेकिन मंत्र-तंत्र के सहारे वह क्या करना चाहता था, यह समझने के लिए पहले आप लोगों को यह ध्यान में रखना होगा कि आदिम मानव के सामने उन दिनों समस्याएं किस तरह की थीं। मान लीजिए कि उस आदिम स्थिति में एक बहुत बड़ा पत्थर लुढ़क पड़ा और कुछ आदमियों को रौंद दिया या आग लगने से बहुत कुछ जल गया। मनुष्य उन दिनों इसका कारण नहीं जान पाता था। पत्थर क्यों गिर पड़ता है? आग क्यों लग जाती है? इन सबके बारे में कोई सोच उस जमाने के मनुष्य में नहीं थी। आज आदमी को मालूम हो गया है कि पत्थर की शक्ति है भौतिक शक्ति (physical force)। यह शक्ति वस्तुनिरपेक्ष कोई शक्ति नहीं है।

लेकिन उन दिनों के मानव के सामने ये सब अमंगलकारी शक्तियां थीं। इसलिए आदिम मानव ने इन सब शक्तियों पर काबू पाने और खुशामद के जरिये इन्हें शांत करने की कोशिश की। वे लोग ऐसा सोचते थे कि अगर उन सारी शक्तियों को खुश और शांत नहीं किया गया, तो वे मनुष्य का अनिष्ट कर सकती हैं। इसलिए आदिम मानव पत्थर के सामने या आग के सामने नाचते थे, विभिन्न प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शित करते थे। वे ऐसा इस उम्मीद में करते थे कि शायद

इससे अमंगलकारी शक्तियां खुश हो जायें। लेकिन इसमें गौरतलब यह है कि वस्तु से परे किसी भी सत्ता के अस्तित्व के बारे में उस समय का मानव सोचता नहीं था। जिन सब शक्तियों को खुश करने के लिए ये सब काम आदिम मानव करता था, मंत्र उच्चारण करता था, उन सभी कुछ की जड़ में वस्तु ही थी। उन दिनों के मानव के पास इन सब कामों को करने के सिवा और कोई चारा भी नहीं था। इससे परे कुछ भी करने लायक चिंतन-शक्ति भी उन दिनों के मानव के पास नहीं थी। उस जमाने के लोग वस्तु की प्रकृति के बारे में चाहे जान पाये या नहीं, लेकिन वस्तु के बारे में जानकारी हासिल करने की उन्होंने कोशिश जरूर की थी। अर्थात आदिम मानव की इस कोशिश के अंदर ही निहित थी वस्तु को जानने की चाह और बाद में मानव के द्वारा इसी जादू-टोने, मंत्र-तंत्र को देवी-देवताओं की उपासना का साधन बना दिया गया। यह कितनी अजीब सी बात है कि जो मंत्र-तंत्र (magic) आदिम युग में वस्तु को जानने के साधन के रूप में अमल में लाया गया था, उससे आदिम मानव वस्तु को जान पाया या नहीं, लेकिन उसी मंत्र-तंत्र ने बाद में बिल्कुल भिन्न चरित्र अख्तियार कर लिया और अर्चना-प्रार्थना, पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठानों का अभिन्न अंग बन गया। विज्ञान की इतनी तरक्की हो जाने के बावजूद, परमाणु शक्ति का आविष्कार हो जाने पर भी मंत्र-तंत्र आज तक धार्मिक कर्मकाण्डों का हिस्सा बना हुआ है।

इसलिए आपने देखा कि आदिम मानव का चिंतन भौतिकवादी था। वस्तु से परे किसी भी सत्ता के बारे में आदिम मानव नहीं सोचता था। हालांकि वस्तु के रूप और चरित्र के बारे में उसकी कोई सही धारणा नहीं थी। आज हम वस्तु के बारे में जितनी जानकारी हासिल कर चुके हैं, जो देख सकते हैं, समझ सकते हैं—यह सभी कुछ उस जमाने के इंसान को मालूम नहीं था, मालूम करना मुमकिन भी नहीं था। लेकिन वस्तु को जानने-समझने के लिए उसे वस्तु से ही संघर्ष करना पड़ा और प्रकृति से संघर्ष करके ही वह आगे बढ़ा। किसी 'सृष्टिकर्ता ईश्वर' या वस्तु-निरपेक्ष किसी भी सत्ता की बात सोचना आदिम मानव के द्वारा संभव नहीं था। ईश्वर चिंतन की किसी भी छाप के लिए आदिम मानव के मन में उन दिनों कोई जगह नहीं थी। मनुष्य के

अंदर ईश्वर चिंतन काफी बाद में आया। ईश्वर का चिंतन समाज में एक ऐसे समय में आया, जब मानव के मन में ईश्वर चिंतन आने का एक अनुकूल परिवेश या परिस्थिति समाज में पैदा हुई, उससे पहले नहीं। अतः एक तरफ वस्तुनिरपेक्ष सत्ता के बारे में मन में सोच पैदा होने की उपयुक्त परिस्थिति आ जाने, दूसरी तरफ इंसान की चिंतन या कल्पना करने की क्षमता बढ़ जाने–इन दोनों के सम्मिलन के द्वारा ही मानव मन में ईश्वर चिंतन का पहले पहल आविर्भाव हुआ।

ईश्वर चिंतन पैदा होने का कारण

मानव में ईश्वर का चिंतन कब और क्यों आया? मानव में ईश्वर के चिंतन-विचार का आविर्भाव एक ऐसे समय में हुआ जब समाज वर्ग-विभाजित हो चुका था, मनुष्य जब स्थाई सम्पत्ति का सृजन करने में सक्षम हो गया था, समाज में जब शासक वर्ग का आधिपत्य कायम हो चुका था और उसके नियंत्रण में एक तरह की शासन व्यवस्था कायम हो चुकी थी। जब मनुष्य ने देखा कि जो शासन व्यवस्था का संचालित करते हैं, उनकी इच्छा के अनुसार ही नियम-कायदे बनते हैं, उन नियम-कायदों को सभी को मानकर चलना पड़ता है और इसी वजह से समाज भी अनुशासनबद्ध होकर चल रहा है–ऐसे ही किसी समय में मानव के मस्तिष्क में एक चिंतन आया। मनुष्य ने देखा कि यह जो विश्व चराचर है, यह जो पूरी दुनिया है, यह एक नियम मानकर चल रही है। दिन होता है, रात होती है, सूर्योदय और सूर्यास्त होता है, मौसम बदलता है, सर्दी, गर्मी, बरसात एक नियम के अनुसार नियत काल में आते-जाते रहते हैं। ज्वार-भाटा आता है, अमावस्या-पूर्णिमा होती है। सभी कुछ नियम मानकर ही हो रहा है। मानव ने सोचा कि अगर कोई शासक न रहे, कोई नियम-कायदे बनानेवाला न रहे, कोई प्रभु या मास्टर न रहे तो समाज ही जहां नियम मानकर नहीं चल सकता, वहां यह विश्व चराचर या दुनिया नियम मानकर चल रही है, तो इसके पीछे भी जरूर कोई न कोई प्रभु या मालिक है। अर्थात समाज में अनुशासन के पीछे शासनकर्ता जो भूमिका निभाता है, उसे ध्यान में रखते हुए प्रकृति एवं विश्व चराचर के नियमबद्ध ढंग से चलने के कारण को तलाशते हुए इन दो घटनाओं के बीच सादृश्य से

उसके मन में जो विचार सूझा, उसी के आधार पर उसने सोचा कि दुनिया का भी कोई प्रभु या 'सुपर मास्टर' है–इसी तरह उसने ईश्वर को खोज निकाला था। यही है संसार में ईश्वर का विचार पैदा होने का मूल कारण। इसी रास्ते समाज में भगवान का चिंतन पैदा हुआ है।

फिर एक बात और याद रखने की जरूरत है। प्रकृति के इन परिवर्तनों को देखकर मानव के मन में ये सवाल शुरू में ही नहीं उठ खड़े हुए थे। समाज के अनुशासित ढंग से चलने और प्रकृति के भी नियमित अनुशासन में चलने के साथ समाज के मालिक या प्रभु के साथ दुनिया के 'सर्वशक्तिमान' ईश्वर के अस्तित्व की बात मनुष्य शुरू में ही नहीं सोच सका था। ऐसा वह तब तक नहीं सोच सका, जब तक एक शासक के निर्देश पर समाज में नियम-अनुशासन काम नहीं करने लगा। हालांकि प्रकृति के परिवर्तन को वह पहले से ही देखता आया था। ठीक किस समय में आकर समाज में ईश्वर की धारणा पैदा हुई, उस समय विशेष में सामाजिक व्यवस्था क्या थी, वह सब विस्तृत शोध का विषय है। इस विषय में अनेक नृवैज्ञानिक (anthropological) शोध हुए हैं। मॉर्गन से शुरू करके बहुत सारे वैज्ञानिकों ने इस विषय में शोध कार्य किये हैं। इन सभी शोध कार्यों के आधार पर और आदिम मानव द्वारा रचित विभिन्न गुफा चित्रों (cave paintings) और अन्य सामग्रियों से जितनी दूर तक जानकारी हासिल हो पायी है, उससे हमें लगता है कि दासों और दासप्रभुओं में बंटे समाज में ईश्वर चिंतन मानव के मन में सबसे पहले आया। बहरहाल, यह आपने गौर किया है कि वस्तु या वस्तु की शक्ति को जानने और वश में करने के उपाय के रूप में मानव ने जब मंत्र-तंत्र (magic) का उपयोग किया था, उस समय भी समाज में भाववाद या ईश्वरवाद के चिंतन का जन्म नहीं हुआ था। किस कारण से और किस स्थिति में मानव के मन में सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा का जन्म हुआ–इसके बारे में मैंने आपके सामने यहां बहुत ही संक्षेप में चर्चा की है। वस्तु से बने हुए खगोलीय पिंडों, तारों, ग्रहों और उपग्रहों को बाद में वस्तु से परे या अलौकिक शक्ति के रूप में ही व्याख्या करने की कोशिश हुई। इसी प्रक्रिया के तहत सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि सारे ग्रहों, उपग्रहों व नक्षत्रों को वस्तु से

परे या अलौकिक (supernatural) शक्ति के रूप में विभिन्न धर्मों में व्याख्या की गयी है। हालांकि 'अलौकिक शक्ति' की व्याख्या सभी धर्मों में एक जैसी नहीं की गयी है। मुसलमानों की 'कुरान', ईसाइयों की 'बाइबिल' और हिन्दुओं के विभिन्न धर्म ग्रंथों में इस बारे में व्याख्या एक जैसी नहीं है। सिर्फ एक जगह ही इन सभी में एक समानता है, सभी धर्मों में वस्तु से परे अलौकिक महाशक्ति की कल्पना की गयी है–अलौकिक महाशक्ति को ही मूल आधार माना गया है और यह कहा गया है कि उसी की मर्जी से सब कुछ होता है। सभी धर्मों का कहना है कि ईश्वर की इच्छा स्वतंत्र इच्छा है। वह वस्तु के नियमों से परे है। समूचा वस्तु जगत और उसके नियम-कायदे उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति बताये गये हैं। एक समय में ईश्वर की निराकार रूप में कल्पना की गयी थी। कहा गया था कि उसका कोई रूप और आकार नहीं है। सभी धर्मों में ईश्वर के गुणों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। लेकिन यह ईश्वर कौन है, वह कहां रहता है–इसका पता कोई नहीं लगा पाया। ईश्वर के बारे में यह सब जानने का कोई उपाय भी नहीं है, क्योंकि वह कहीं नहीं है। ईश्वर मानव मस्तिष्क के सिवा और कहीं नहीं हैं। ईश्वर है इंसान की कल्पना में, हमारी 'इमेजिनेशन' में। वह विद्यमान है सिर्फ मन के दर्पण में। इंसान के जेहन के आइने में भगवान कैसे पहुंचे हैं, यह इतिहास आप लोग इस चर्चा में सुन चुके हैं। एक समय में हिन्दू धर्म में तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं का उल्लेख देखने को मिला है। विभिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में इसके बारे में व्याख्याओं ने भिन्न-भिन्न रूप ले लिया है, लेकिन सभी धर्मों का सार मूलत: एक ही है जिसे आप पहले ही सुन चुके हैं।

अत: आप देखते हैं कि आदिम मानव का चिंतन भौतिकवादी होने के बावजूद समाज की प्रगति के एक विशेष स्तर में समाज में भाववादी चिंतन का आविर्भाव हुआ। इस भाववादी चिंतन के आने के बाद से समाज में भौतिकवाद और भाववाद, दोनों चिंतन साथ-साथ चल रहे हैं, एक-दूसरे के साथ टक्कर भी ले रहे हैं। इसलिए मानव समाज की चिंतनधारा को अगर वर्गीकृत किया जाये, तो मुख्यत: दो धाराओं में बांटा जा सकता है–एक है भाववादी विचारधारा और दूसरी

है भौतिकवादी विचारधारा। इस भाववादी विचारधारा के अंदर भी तरह-तरह के मत हैं, उनमें आपस में बहुत सारे द्वन्द्व भी हैं। फिर भी उनमें एक जगह पर मूलत: समानता है। लेकिन एक बात याद रखनी चाहिए कि भाववाद का मतलब हमेशा ईश्वरवाद नहीं होता है। ऐसे बहुत से भाववादी व्यक्ति हैं जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते हैं। वे लोग निरीश्वरवादी हैं। वे विज्ञान में विश्वास करना चाहते हैं। लेकिन इसके बावजूद, दरअसल उनका चिंतन सभी क्षेत्रों में हमेशा विज्ञान पर आधारित नहीं रह पाया। ईश्वर पर विश्वास न करने के बावजूद, वे भाववादी चिंतन का शिकार हो गये और भाववाद को ही व्यवहार में लाये। हालांकि उनकी भाववादी अभिव्यक्ति में भिन्नता है, जहां विभिन्नता है वहीं उन सभी ने किसी न किसी सवाल पर वस्तु से परे किसी एक सत्ता में विश्वास कर लिया है। इस विश्वास को उन सभी ने अपने-अपने मनमाफिक (subjectively) तरीके से मान लिया है। अर्थात उन्होंने वस्तुजगत से परे, वस्तु के नियम से परे निर्वस्तु सत्ता के अस्तित्व को जैसे भी हो मान लिया है। उन सभी की इस बिंदु पर एक राय है कि सिर्फ वस्तु जगत ही हकीकत नहीं है, वस्तु से परे एक सत्ता का भी अस्तित्व है। लेकिन इस वस्तु से परे अलौकिक सत्ता का अस्तित्व किस तरह से है, इस बिन्दु पर ही इनमें कुछ मतभेद हैं। यह जो विशेष किस्म की चिंतनधारा या चिंतन प्रक्रिया है, उसे ही हम कहते हैं भाववादी चिंतन प्रक्रिया (idealist process of thinking)। दूसरी तरफ एक की मूल बात यह है कि वस्तु ही समस्त चिंतनों का आधार है। इस चिंतनधारा के प्रवक्ताओं का मानना है कि यह वस्तु जगत ही सत्य है–इस दुनिया में वस्तु से परे किसी भी सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। इस विशेष प्रकार की चिंतनधारा को हम कहते हैं भौतिकवादी या वस्तुवादी चिंतनधारा। इसी भौतिकवादी चिंतन के आधार पर दुनिया में बहुत सारे भौतिकवादी दर्शन निर्मित हुए हैं। क्योंकि भौतिकवादी होने के बावजूद, वस्तु के बारे में इन सभी की व्याख्या एक जैसी नहीं है, अवधारणा भी एक जैसी नहीं है।

भाववाद और भौतिकवाद

विभिन्न भाववादी दर्शनों और भौतिकवादी दर्शनों–दोनों के अपने-अपने

अंदर जो विभिन्न फर्क हैं, मैं उनके बारे में चर्चा में फिलहाल नहीं जाऊंगा। सिर्फ इस विषय में प्रासंगिक एक बात जो मैं कहना चाहता हूं वह यह है कि मानव समाज के विकास के साथ-साथ, सभ्यता एवं चिंतन जगत के विकास के साथ-साथ, और ज्ञान-विज्ञान-अनुभव के विकास के साथ-साथ भाववादी एवं भौतिकवादी–दोनों ही चिंतनधाराएं लगातार परिवर्तित एवं समृद्ध होती हुई आज एक विशेष जगह आ पहुंची हैं। दुनिया के इतिहास में ईश्वर चिंतन आने के बाद वह चिंतन भी एक जगह स्थिर नहीं रह सका–उसे विभिन्न प्रकार के प्रश्नों एवं समस्याओं से मुकाबला करना पड़ा। जैसे किसी-किसी धर्म में कहा गया है कि मानव मूलत: अच्छे गुण लेकर ही पैदा होता है (Man is born good)। लेकिन अनुभव से देखा जा सकता है कि समाज में सिर्फ अच्छे आदमी ही नहीं हैं, बल्कि बुरे आदमी भी हैं। इसलिए हमें कहना होगा कि ईश्वर ने न केवल अच्छे और नेक आदमी पैदा किये हैं, बल्कि बुरे और खराब आदमी भी पैदा किये हैं। फिर अगर यह कहा जाये कि ईश्वर ने अच्छे और बुरे, दोनों ही तरह के मनुष्यों का सृजन किया है तो यह बात सुनने में बहुत से लोगों को परेशानी महसूस होगी। यदि यह मान लिया जाये कि ईश्वर ने सिर्फ अच्छे आदमियों को ही पैदा किया है, तब तो अच्छे और बुरे आदमियों की पैदाइश के लिए सृष्टि के आदिकाल से ही ईश्वर और शैतान, दोनों को ही मानना पड़ेगा। ऐसा मान लेने से तो मामला यह हो जायेगा कि यह दुनिया सिर्फ ईश्वर द्वारा ही बनायी हुई नहीं है, बल्कि शैतान ने भी इसका निर्माण किया है। उस जमाने के इंसान को इन सभी मुश्किल सवालों का सामना करना पड़ा था। ऐसे में कुछ व्यक्ति अज्ञेयवादी (agnostic) हो गये। इन अज्ञेयवादियों का कहना है कि ईश्वर है या नहीं–यह बात मानव के जानने से परे है। अर्थात इनका कहने का भाव है कि यह मानव का विचारणीय विषय नहीं है।

यहां इस प्रसंग में मैं अपने अनुभव का कुछ जिक्र करना चाहता हूं। ऐसे कुछ लोगों से मेरी मुलाकात हुई है जो नास्तिक (atheist) हैं, जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखते हैं। लेकिन वे मार्क्सवादी या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं हैं, बल्कि बुर्जुआ मानवतावादी (humanist) हैं। उनकी चिंतन-भावना इस तरह की है कि ईश्वर पर विश्वास

करना ही सब तरह की बुराइयों की जड़ है। उनका मानना है कि ईश्वर विश्वास ही शोषण और सारे अनिष्ट का मूल कारण है। उनकी धारणा यह है कि मार्क्सवाद या वर्ग-संघर्ष का वास्तव में कोई आधार नहीं है, न इसकी कोई जरूरत ही है! उनका कहना है कि जब तक ईश्वर के विचार को मन से निकाला नहीं जायेगा, तब तक मानव की मुक्ति असंभव है। उनका कहना है कि जब तक मनुष्य अपने पैरों पर नहीं खड़ा होगा, तब तक वह अन्याय के खिलाफ आवाज नहीं उठा पायेगा या ईश्वर के विरुद्ध नहीं लड़ पायेगा। वे लोग सोचते हैं कि आदमी दूसरों के द्वारा किये गये जुल्म, जोर-जबरदस्ती को सहन कर लेता है, चुपचाप अन्याय-अत्याचार को झेल लेता है, वह सभी कुछ इसी ईश्वर या अदृष्टवाद में विश्वास करने के ही कारण होता है। इसलिए उनका कहना है कि ईश्वर विश्वास को हटाना पड़ेगा, तभी इंसान सर ऊंचा करके खड़ा हो सकेगा। यही है उन लोगों की तर्कधारा या तर्क का ढांचा। लेकिन आपको याद रखना चाहिए कि इन सब नास्तिकों के साथ मार्क्सवादियों का कोई मेल नहीं है। मार्क्सवादी भी नास्तिक होते हैं, लेकिन निरीश्वरवाद ही मार्क्सवाद नहीं है। ऐसे बहुत सारे नास्तिक लोग हैं जो घोर मार्क्सवाद-विरोधी हैं। इतिहास में ऐसी बहुत-सी घटनाएं देखने को मिल जायेंगी जब ईश्वरवादियों के साथ मिलकर मार्क्सवादी सामाजिक प्रगति के संघर्ष में एक साथ काफी दूर आगे बढ़े हैं, मानव सभ्यता के विकास के लिए एक साथ मिलकर काम किया है। लेकिन इस तरह के नास्तिकों के साथ मार्क्सवादी लोग ज्यादातर मामलों में एक साथ काम नहीं कर पाये। यह बात आप याद रखें।

खैर हम पहले की चर्चा पर वापस आयें। स्थाई सम्पत्ति की उत्पत्ति के बाद, वर्ग-विभाजित समाज में जब ईश्वर-चिंतन का जन्म हुआ, मानव के चिंतन में जब सर्वशक्तिमान ईश्वर (almighty God) के विचार ने गहरी जड़ जमा ली, तब ऐसी स्थिति में राजे-रजवाड़ों, सामंतों को ही ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाने लगा। उस जमाने के इंसान इसी तरह सोचने लगे कि ईश्वर जिस तरह दुनिया को चलाता है, उसी ईश्वर के प्रतिनिधि की हैसियत से राजा भी देश और समाज को चला रहा है, सब पर शासन कर रहा है। इसलिए उस जमाने के इंसान का

विश्वास था कि अगर कोई ईश्वर को मानता है तो उसे राजा को भी मानना पड़ेगा। राजा के प्रति वफादार होना पड़ेगा। अर्थात लोग यह मानते थे कि अगर कोई ईश्वर की खिलाफत नहीं करना चाहता, तो वह राजा की भी खिलाफत न करे। विपरीत रूप से अगर कहा जाये तो उनकी धारणा यह थी कि जो राजा के प्रति विश्वासघात कर सकता है, वह ईश्वर के प्रति भी विश्वासघात कर सकता है। उस समय आम तौर पर धर्म का मामला ऐसा ही हो गया था। इसलिए धार्मिक लोगों ने उस जमाने में राजतंत्र के खिलाफ विद्रोह नहीं किया था। फलस्वरूप उनके ईश्वर पर विश्वास ने उस जमाने में राजतंत्र की रक्षा करने में मदद ही की थी।

लेकिन जिनका यह कहना है कि भाववादी दर्शन इतिहास के हर स्तर पर शोषकों द्वारा शोषण के हथियार के रूप में इस्तेमाल हुआ है, उनकी इस बात से मैं कभी भी सहमत नहीं हो पाया हूं। मेरे ख़याल से यह अवधारणा इतिहास की विकृति है, वास्तविकता से मेल खाता विचार-विश्लेषण नहीं है। फिर उसी तरह से जो लोग यह कहते हैं कि भौतिकवादी चिंतन हमेशा से ही समाज में शोषित-पीड़ित वर्ग के हथियार के रूप में इस्तेमाल हुआ है, उनका यह दावा भी मेरे खयाल से गलत है। इन सब विचारों के साथ मैं कभी सहमत नहीं हो सका। क्यों नहीं हो सका, इस बारे में दो-चार बातें कहूंगा।

इतिहास में भाववाद व भौतिकवाद की भूमिका

जैसे दासों व दासप्रभुओं में विभाजित समाज की बात ले लीजिए। उस जमाने में दासों के ऊपर दास-प्रभुओं द्वारा किये गये निर्मम अत्याचारों की बहुत सारी ऐसी रौंगटे खड़े कर देनेवाली कहानियां आपने सुनी होंगी। इस विषय में बहुत सारी ऐसी कथा-कहानियां लिखी हुई हैं। अत्याचारों के ये वर्णन और करुण कहानियां आज भी लोगों के मन को गहराई तक झकझोर कर रख देते हैं। ये सब घटनाएं वास्तव में दिल दहला देनेवाली हैं। इसलिए उस समय दास-प्रभुओं द्वारा दासों पर किये जा रहे अत्याचारों को लेकर, खासकर ईसाई धर्मावलम्बियों के सामने एक सवाल खड़ा हो गया था, क्योंकि ईसा मसीह की शिक्षाओं या ईसाई धर्म के उपदेशों के अनुसार वे सभी लोग

तहेदिल से यह विश्वास करते थे कि ईश्वर द्वारा बनाये गये सभी आदमी बराबर हैं। वे मानते थे कि ईश्वर के द्वारा बनाये गये सभी जीवों में कोई फर्क नहीं हो सकता। ईसाई धर्म की यह शिक्षा उनके मन में गहराई तक पैठ चुकी थी और इसी विचार के मार्गदर्शन से ही दास लोग दास-प्रभुओं के खिलाफ संगठित हुए थे और उन्होंने प्रतिवाद किया था। ईसाई धर्म की शिक्षाओं के आधार पर उन्होंने यह दलील देनी शुरू की कि दासप्रभु दासों पर अत्याचार करके असल में ईसाई धर्म के अनुशासन के ही खिलाफ आचरण कर रहे हैं। वे कहने लगे कि दासों पर जुल्म ढाना ईसाई धर्म की ही तौहीन करना है। इसलिए इस पहलू से विचार करने से यह समझने में दिक्कत नहीं होती है कि ईसाई धर्म ने उस समय दासप्रभुओं के अन्याय-अत्याचार के खिलाफ दासों को संगठित होने, संघर्ष करने में मदद की और इसी मायने में एक समय सामाजिक प्रगति में मदद की थी। इस्लाम धर्म को मानने वालों में भी इसी तरह की मिसाल मिलती हैं।

एक दूसरे पहलू से भी इस विषय पर सोचकर देखना चाहिए। आप लोगों को याद रखना चाहिए कि सामाजिक विकास के एक विशेष स्तर पर पहुंचने पर धर्म ने ही इंसान के जेहन में नीति-नैतिकता, मूल्यबोध, न्याय-अन्याय की धारणा, सेवा की भावना, दूसरे को नीचा न समझना आदि सारे चिंतन पैदा करने में मदद की है। इसके फलस्वरूप ही समाज में अनुशासन की भावना पैदा हुई और समाज के संगठित होने और मिलकर चलने में मदद मिली। इस दृष्टिकोण से भी सामाजिक प्रगति में धर्म ने मदद की है। इसलिए मेरा यह कहना है कि धर्म ने इतिहास के जिस स्तर पर जिस हद तक सामाजिक प्रगति के मामले में मदद की है, सामाजिक प्रगति के मामले में उसका उतना ही ऐतिहासिक मूल्य है। इसको नकारने का मतलब है इतिहास को ही नकारना। धार्मिक व्याख्याएं सही हैं या नहीं यह सब ज्ञानतत्व की चर्चा का अलग विषय है। यह बात सही है कि भाववादी चिंतन ने इतिहास के ज्यादातर समय में शोषकों के हाथों में शोषण के हथियार की भूमिका निभायी, लेकिन मैं इस बात से कभी सहमत नहीं हो पाया कि धार्मिक सोच या भाववादी चिंतन ने सामाजिक प्रगति में किसी समय कोई भूमिका नहीं निभायी।

फिर जो यह मानता है कि भौतिकवादी चिंतन ने हमेशा शोषित-पीड़ित वर्ग के संघर्ष के औजार के रूप में कार्य किया है, तो मेरे मतानुसार यह सोच भी पूरी तरह सच नहीं है। यह बात आप सभी जानते हैं कि दासप्रभुओं ने विकृत भौतिकवाद (vulgar materialism) पर ही अमल किया था। एक समय में आकर जिन राजे-रजवाड़ों ने स्वयं को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया था, बाद में वही राजे-रजवाड़े मृत्यु के बाद परलोक जाने की बात न सोचकर इसी जीवन के आनंद और भोग-विलास में लिप्त हो गये थे। मोटे अर्थों में उन्होंने इस जिन्दगी के भोग-विलास को ही मोक्ष मान लिया था। उस समय उन लोगों के अंदर वास्तव में किसी धार्मिक अनुशासन या धर्म के आधार पर न्याय-अन्याय के अहसास की सोच ने काम नहीं किया था। पाप-पुण्य की बात को भूलकर उन्होंने यही सोचा कि कैसे जीवन में मौज-मस्ती की जाये और इस तरह मनुष्य को खुदगर्ज बनने और इसके द्वारा समाज की प्रगति को वास्तव में बाधित करने में ही उन्होंने मदद की।

गौरतलब बात यह है कि आप सभी जानते हैं, चार्वाक का दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है। लम्बे अरसे से इस देश के भाववादी यह प्रचार करते आये हैं कि चार्वाक ने 'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।' (जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज लेकर भी घी पीओ) जैसी विकृत भौतिकवाद की बात कही है। असल में चार्वाक के दर्शन ने एक शक्तिशाली भौतिकवादी दर्शन के तौर पर अतीत के युग में प्रभाव डाला था, जिसका खंडन भाववादी किसी भी तरह नहीं कर पाये थे। इसलिए इस दर्शन के चिंतन पर आधारित सभी प्रामाणिक संग्रह उन्होंने नष्ट कर दिये, सिर्फ भाववादियों द्वारा उनकी आलोचना करते हुए जो कुछ उद्धरण कांट-छांट कर उल्लेखित किये गये, उनसे ही पता चलता है कि इस तरह का एक शक्तिशाली भौतिकवादी दर्शन का अस्तित्व था। यह भी बखूबी समझा जा सकता है कि इस दर्शन को लोगों की नजरों में गिराने के लिए ही चार्वाक के नाम पर इस कथन को प्रचारित किया गया है।

परिवेश और मनुष्य का पारस्परिक संबंध

जो भी हो, फिर हम मूल चर्चा पर वापस आयें। सामाजिक विकास के लम्बे इतिहास के बारे में जिन्हें जानकारी है, वे इस बात से कतई

इनकार नहीं कर सकते हैं कि अच्छी तरह से जीने के लिए अर्थात बेहतर ढंग से जीवनयापन के लिए इंसान ने प्रकृति के खिलाफ संघर्ष करने की प्रक्रिया में एक विशेष स्तर पर आकर उत्पादन व्यवस्था को जन्म दिया, समाज में कुछ-न-कुछ उत्पादन करने की क्षमता अर्जित की। इंसान की चेतना या सचेत क्रिया विभिन्न अवस्थाओं में प्रकृति को जानने के संघर्ष में और प्रकृति के खिलाफ लड़ने की जरूरत से संलग्न रही है। इस बात का मतलब यह है कि एक तरफ इंसान का दिमाग और दूसरी तरफ उत्पादन व्यवस्था के आधार पर खड़े हुए सामाजिक या वास्तविक परिवेश और बाहरी दुनिया के साथ इंसान के घात-प्रतिघात व द्वन्द्व-समन्वय के जरिये ही इंसान के चिंतन का उन्मेष और विकास होता रहता है। आप सब याद रखें कि यहां परिवेश कहने से तात्पर्य है चारों ओर की सारी चीजें। अर्थात आपको समझना होगा कि इंसान के चारों ओर जो कुछ भी है—वस्तु जगत, सामाजिक जीवन, बाहरी दुनिया या प्रकृति जगत, यह सब कुछ परिवेश के अन्तर्गत आता है। आपको समझना होगा कि जीवनयापन के लिए जिन सब वस्तुओं से इंसान का संपर्क हो रहा है—उन सभी चीजों को परिवेश कहा जाता है। इंसान एक विशेष सत्ता के रूप में द्वन्द्व की एक शर्त (condition) और द्वन्द्व के विषय (point of contradiction) के रूप में इस परिवेश से जुड़ा हुआ है। अत: परिवेश से परे जिस तरह इंसान का विचार नहीं किया जा सकता, ठीक उसी तरह परिवेश भी इंसान पर लगातार प्रभाव डालता जा रहा है। इन दोनों के बीच अन्तर्क्रिया, द्वन्द्व-समन्वय की परिणति के तौर पर ही इंसान के चिंतन का जन्म होता है।

एक बात और यहां आपको समझने की जरूरत है। इतिहास के छात्र जानते हैं कि आदिम काल में जब समाज वर्ग-विभाजित नहीं हुआ था, तब स्वाभाविक रूप से ही समाज के विकास या प्रगति के क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष की कोई भूमिका नहीं थी। लेकिन इसके बावजूद उस अवस्था में सामाजिक प्रगति रुक नहीं गयी थी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तौर पर ही इस मामले में एक सवाल उठ खड़ा हो सकता है, वह यह कि जब द्वन्द्व-समन्वय, संघर्ष, घात-प्रतिघात के बगैर कोई गति पैदा ही नहीं हो सकती, तब जिस आदिम समाज में वर्ग-विभाजन

या वर्ग-संघर्ष बिल्कुल नहीं था, उसमें किन शक्तियों के घात-प्रतिघात से समाज में प्रगति संभव हुई? यह बात समझनी होगी कि उस आदिम समाज में मानव की जीवन यात्रा को केन्द्र करके उसके आसपास, चारों ओर जो परिवेश मौजूद है उस परिवेश या प्रकृति से मनुष्य के मस्तिष्क का द्वन्द्व-संघात ही उस समय समाज का मूल द्वन्द्व था। इसी द्वन्द्व के आधार पर ही उस जमाने का समाज आगे बढ़ा था। इसलिए हमेशा ही परिवेश कहने से एक विशेष समय का परिवेश समझना होगा और इसे इसके व्यापक अर्थ में और सब कुछ को समाहित करके समझना होगा। यह जो वस्तुनिष्ठ परिवेश या परिस्थिति है, इसी को कहा जाता है वस्तुनिष्ठ (objective) या भौतिक परिस्थिति (material condition)। फिर यह भी याद रखें कि वस्तुनिष्ठ परिस्थिति जब बदलती है, तो वह भी इंसान पर प्रभाव डालती है। चूंकि बदली हुई परिस्थिति इंसान के साथ परिवेश के एक नये द्वन्द्व-संघर्ष को जन्म देती है और उस नये द्वन्द्व-संघर्ष की प्रक्रिया में नया चिंतन पैदा होता है। लेकिन यहां एक बात का ख्याल रखना चाहिए कि वस्तुनिष्ठ परिवेश के साथ इंसान के मस्तिष्क का जो द्वन्द्व-संघर्ष होता है और उस द्वन्द्व-संघर्ष के जरिये जिस नये चिंतन का जन्म होता है, वह परिवेश बदलने के साथ-साथ अपने आप नहीं बदल जाता है। परिवेश बदलने के बाद भी नये चिंतन का जन्म होने में कुछ वक्त लगता है। जो लोग यह मानते हैं कि परिस्थिति में जैसे-जैसे बदलाव आयेगा, उसके साथ ही साथ मानव चिंतन स्वयं बदल जायेगा, उनकी यह सोच यांत्रिकता के दोष से ग्रसित है। इसके अलावा आप एक और बात भी याद रखें। भाव जगत के बनने का मूल आधार है वस्तु जगत। वस्तु जगत की मौजूदगी के बगैर भाव जगत की मौजूदगी की कल्पना ही नहीं की जा सकती। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि वस्तु जगत के साथ इंसान के उन्नत बनावट वाले और चिंतन करने की क्षमता रखनेवाले उसके मस्तिष्क के द्वन्द्व-संघर्ष की बदौलत ही भाव या चिंतन का जन्म हुआ है। इसलिए, इंसान की चिंतन करने की जो क्षमता है, उसका आधार है मस्तिष्क। फिर, जब चिंतन या भाव का जन्म हो गया, उस वक्त से ही परिवेश के साथ इंसान के द्वन्द्व-संघर्ष ने एक नया मोड़ ले लिया। मनुष्य ही केवल वस्तु जगत और समाज

को प्रभावित कर रहा है। केवल बात इतनी ही नहीं है, बल्कि भौतिक परिवेश भी मनुष्य के मस्तिष्क की क्षमता, किसी भी विचार को ग्रहण करने की क्षमता (adaptability) को बढ़ाने में मदद कर रहा है। इसके चलते इंसान के मस्तिष्क का गठन और भी ज्यादा उन्नत व जटिल (complex) हो रहा है। यहां जटिल कहने का अर्थ है उन्नत अर्थात यह कि उन्नत मस्तिष्क लगातार उन्नत चिंतन को जन्म दे सकता है और उसे पूरी तरह आत्मसात (assimilate) कर सकता है। इसलिए, मैं कहता हूं कि जैसे वस्तु चिंतन को जन्म दे रही है, फिर चिंतन भी वस्तुनिष्ठ परिस्थिति को प्रभावित कर रहा है, इसलिए इन दोनों के बीच एक पारस्परिक संबंध कायम है।

लेकिन एक बात हर वक्त याद रखनी होगी कि वस्तु अर्थात पदार्थ ही चिंतन का जन्मदाता है–वस्तु ही पहले (prior) है। मनुष्य जिस मस्तिष्क की मदद से चिंतन करता है, वह मस्तिष्क भी वस्तु द्वारा ही गठित है। फिर जिस परिवेश या वस्तुनिष्ठ परिस्थिति के साथ मनुष्य के दिमाग के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप चिंतन का जन्म होता है, वह परिवेश भी वस्तुओं की ही समष्टि है। इसलिए, परिवेश के अंदर ही मनुष्य के चिंतन या भाव का विकास होता है, फिर वही चिंतन या भाव परिवेश को बदलने में मदद करता है। मनुष्य प्रतिकूल परिवेश के सामने मजबूर नहीं है। परिवेश से अलग रहकर भाव का विकास भी संभव नहीं है। फिर इस बात का अर्थ अगर कोई यह निकाले कि असफलता का सामना करते हुए अगर कोई यह तर्क देने लगे कि 'वे क्या कर सकते हैं, वे परिस्थिति के सामने मजबूर हैं, परिस्थिति ने ही उनकी ऐसी हालत कर दी है कि वे कुछ नहीं कर सकते'–तो इस तरह का चिंतन भी सही नहीं है, यह सही भौतिकवादी चिंतन तो बिल्कुल नहीं है। इस तरह से चिंतन करना तो व्यक्ति की भूमिका को ही पूरी तरह नकारना है। चूंकि यह सोच इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखती कि जब एक चिंतन का जन्म हो गया, तब उसकी भी अपनी एक भूमिका होती है, चिंतन की भी अपनी एक सापेक्ष स्वतंत्रता है, परिवेश के ऊपर वह भी क्रिया करता है।

चिंतन की सापेक्ष स्वतंत्रता है, न कि परम स्वतंत्रता

बहरहाल, जब चिंतन आ गया, तो वह सापेक्ष स्वतंत्रता लेकर ही

आया–यह बात याद रखें। जैसे भाव या चिंतन की सापेक्ष स्वतंत्रता है, इस बात का मतलब यह है कि अगर कोई यह समझे कि चिंतन की परिवेश से अलग एक स्वाधीन सत्ता है, तो यह सोचना गलत होगा। याद रखें, परिवेश के साथ चिंतन या भाव का द्वन्द्वात्मक (dialectical) संबंध है। इसी वजह से फिर चिंतन की स्वतंत्रता की जो बात कही गयी है, वह है सापेक्ष स्वतंत्रता, वह परम स्वतंत्रता कदापि नहीं है। स्थान, काल और परिवेश से अलग होकर स्वतंत्र सत्ता के रूप में चिंतन या भाव अस्तित्व में नहीं रहता। पहले ही आप चर्चा में सुन चुके हैं, इस तरह सोचना भी यांत्रिक और अवैज्ञानिक है कि परिवेश या वस्तुनिष्ठ स्थिति जैसे-जैसे बदलती है, भाव या चिंतन भी वैसे-वैसे अपने आप बदल जाता है। परिवेश ही अगर पूरी तरह से सारे सोच-विचार को नियंत्रित करने की भूमिका निभाता है, परिवेश को प्रभावित और परिवर्तित करने के क्षेत्र में मनुष्य की चिंतन शक्ति की अगर कोई भूमिका नहीं है, तो हमारे सामने नियतिवाद में फंस जाने के सिवा और कोई विकल्प नहीं रहेगा। तब तो इंसान की भूमिका निष्क्रिय, निर्जीव, निश्चल और निष्फल हो जायेगी। इस किस्म की सोच क्रांतिकारी संगठन और क्रांतिकारी आंदोलन के लिए लाजमी तौर पर बहुत ही नुकसानदेह है। इस तरह के चिंतन के शिकार हो जाने से जिस विपरीत और प्रतिकूल परिस्थिति से हमारी पार्टी का पाला पड़ा था, उसमें इसे गठित करना ही नामुमकिन हो जाता। इसके अलावा, माहौल या परिवेश की भूमिका पर एकतरफा जोर देने से, कहीं कोई कार्यक्रम नाकामयाब हो जाने पर इसके लिए हम परिस्थिति को ही जिम्मेदार ठहरा देंगे। आसानी से हम तर्क दे देंगे कि हमारी वजह से नहीं, बल्कि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण ही हम कामयाब नहीं हो पाये हैं। अर्थात असफलता के लिए जिम्मेवार परिवेश ही है, हम नहीं हैं।

जबकि इतिहास में हम देखते हैं कि केवल मनुष्य ही वह प्राणी है जिसने प्राकृतिक शक्तियों और प्रकृति के सामने पूरी तरह आत्मसमर्पण नहीं किया। दूसरे जीवों से मनुष्य का जमीन-आसमान का फर्क है। दूसरे जीव-जन्तु जहां पूरी तरह से प्रकृति के दास हैं, वहीं मनुष्य

प्रकृति को जानने की कोशिश करता है, प्रकृति के नियमों को समझने की कोशिश करता है और उनको काबू (harness) में करता है। प्रकृति की इन अमंगलकारी शक्तियों को वशीभूत करता है और मंगलकारी शक्तियों को इस्तेमाल करता है। इसलिए, हमारा काम है सारी रुकावटों व बाधाओं को पार करके जीत हासिल करना, हार नहीं मानना। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि सारी कोशिशों के बावजूद हम असफल हो गये। विश्लेषण करने से देखेंगे कि शायद वहां परिस्थिति पर विचार करने के मामले में हमने कहीं गलती या त्रुटि की थी और ऐसा भी हो सकता है कि हमारा कदम सही होने के बावजूद या हमारी सारी कोशिशों के बावजूद कभी-कभी किसी मामले में हम सफल नहीं हो पाये। ऐसा होने से हमें समझ लेना होगा कि वह हमारी क्षमता से बाहर था। कोशिश करने में अगर कोई कमी नहीं रही, तो हमें इस तरह समझ लेना होगा कि जो समझदारी होनी चाहिए थी, जो चरित्र-बल होना चाहिए था और जो ज्ञान या क्षमता हमारी होनी चाहिए थी उससे हम काफी पीछे रहे। जबकि हम 'उधो की टोपी माधो के सर' पर रख रहे हैं। परिवेश को जिम्मेदार ठहराकर हम अपनी जिम्मेदारी से मुकरना चाह रहे हैं। इसलिए मैं कह रहा था कि परिवेश के बारे में ऐसी अवधारणा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवधारणा नहीं है।

आधार और ऊपरी ढांचा

एक और बात भी यहां याद रखनी चाहिए। मार्क्सवाद में कहा जाता है कि समाज का आर्थिक ढांचा आधार (base) होता है और भाव या चिंतन होता है ऊपरी ढांचा (super structure)। इसका मतलब यह नहीं है कि आधार बदलने पर ऊपरी ढांचा भी साथ ही साथ अपने आप बदल जाता है। जैसे समाज का उदाहरण ले लीजिए। समाज के आर्थिक ढांचे को उसका आधार कहा जाता है। फिर, उस विशेष आर्थिक ढांचे के आधार पर जो सैद्धांतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और कानूनी अवधारणाएं, भाव या चिंतन तथा उनसे मेल खाती हुई संस्थाएं आदि समाज में पनपती हैं, उन्हें कहा जाता है उस आधार पर बना ऊपरी ढांचा। लेकिन जरा गौर करने पर ही हम समझ सकते हैं कि इतिहास के गतिपथ पर ऊपरी ढांचे में राजनैतिक या

वैचारिक क्रांति के रास्ते जब एक पुरानी अर्थव्यवस्था की जगह कोई नयी अर्थव्यवस्था समाज में कायम होती है, अर्थात जब समाज का आमूल-चूल या क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है, तब मामला ऐसा नहीं होता है कि पुराने समाज का ऊपरी ढांचा भी साथ ही साथ पूरी तरह अपने आप बदल जाये। क्रांति के बाद भी पुराने ऊपरी ढांचे का प्रभाव, पुराने चिंतन का खुमार (hangover) समाज में बहुत दिनों तक जारी रहता है। बहरहाल, मैं जिस बात की चर्चा कर रहा था वह यह कि भाव या मन का आविर्भाव वस्तु की क्रिया के फल के तौर पर होता है और इसलिए वस्तु ही भाव की जननी होती है। लेकिन भाव के अस्तित्व में आने के बाद इन दोनों के ही आपसी संबंध का चरित्र बन गया एक-दूसरे को मदद पहुंचाने वाला अर्थात एक-दूसरे के सम्पूरक-परिपूरक (supplimentary-complementary)। लेकिन भाव और वस्तु के आपसी रिश्ते के बारे में सिर्फ इतना ही समझ लेना काफी नहीं है। यह देखना होगा कि इन दोनों में से कौन-सा मूल या पहले है अर्थात मूल (prior) अर्थात कौन पहले है की अवधारणा भी सटीक होनी चाहिए। इसलिए फिर से कह रहा हूं कि वस्तु या वस्तुनिष्ठ परिस्थिति ही यहां मूल या पहले है। क्योंकि वस्तु ही है भाव की उत्पत्ति का स्रोत। लेकिन भाव के पैदा होने के बाद इसके परिवेश के साथ इसका संबंध हो गया द्वन्द्वात्मक (dialectical) या संपूरक-परिपूरक (supplimentary-complementary)। भाव और वस्तु दोनों ही एक-दूसरे की मदद करते हैं। कभी वस्तुनिष्ठ परिस्थिति भाव को ज्यादा प्रभावित करती है, तो कभी भाव वस्तुनिष्ठ परिस्थिति पर ज्यादा प्रभाव डालता है।

इस प्रसंग में मैं दूसरे एक और बिन्दु पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। जो लोग वस्तुनिष्ठ परिस्थिति की भूमिका को यांत्रिक रूप से समझते हैं, वे अक्सर कहा करते हैं कि समाज जब एक ही स्थिति में खड़ा नहीं रह सकता, समाजवाद या साम्यवाद को जब इतिहास के एक निर्धारित रास्ते से कभी न कभी आना ही है, तब तो समाजवाद एक दिन अपने आप ही कायम हो जायेगा। इस मामले में मार्क्सवादी दर्शन में जो यह कहा गया है कि ऐतिहासिक तौर पर समाजवाद कायम होना अवश्यम्भावी है (Socialism is inevitable),

इस मार्क्सवादी सीख का भी वे जिक्र करते हैं। फलस्वरूप वे सोचते हैं कि तब फिर समाजवाद कायम करने के लिए इतनी मेहनत, इतनी कुर्बानी या इतना संघर्ष करने की जरूरत ही क्या है? मैं आपसे साफ तौर पर कहना चाहता हूं कि विषय को इस तरह समझना गलत होगा। समाजवाद आना इसलिए अनिवार्य है कि पूंजीवादी शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ समाजवादी चेतना और उस चेतना के आधार पर संघर्ष करना भी अनिवार्य है। यही है समाजवाद आना अवश्यम्भावी है—इस सिद्धांत की सही समझ। समाजवाद अवश्यम्भावी होने की अवधारणा ऐसी नहीं है कि पूंजीवादी शोषण-जुल्म के खिलाफ संघर्ष किये बगैर ही चुपचाप घर में बैठे रहने से भी समाजवाद अपने आप आ जायेगा। इस तरह सोचने से इस विषय के बारे में हमारे अंदर विकृत धारणा ही विकसित होगी। इस बारे में सही समझदारी आपको बनानी होगी। फिर इस विचार की सही समझदारी जब आप लोगों में पैदा हो जायेगी, तभी आप क्रांतिकारी आंदोलन में ज्यादा कारगर और सचेत भूमिका अदा करने में सक्षम होंगे। इसके अलावा, दूसरे सभी रास्ते आत्म छलावा के रास्ते हैं।

एक और बात का भी जिक्र यहां करना जरूरी है—वह है जरूरत (necessity) के बारे में मार्क्सवादी अवधारणा क्या है? मेरा मानना है कि वस्तु जगत में या जीव जगत में जो परिवर्तन होते जा रहे हैं, वे परिवर्तन केवल तभी घटित होते हैं या हो सकते हैं जब उनके घटित होने लायक उपयुक्त परिस्थिति पैदा हो जाती है। हमें समझना होगा कि प्रयोजन के बिना कुछ भी घटित नहीं होता है। मार्क्सवाद में प्रयोजन या जरूरत की धारणा जगत और जीवन के यथार्थ प्रयोजन या जरूरत से पैदा हुई है —नियम के तहत, नियम के रास्ते चलते हुए कार्य-कारण संबंध के घात-प्रतिघात से जो प्रयोजन या जरूरत दिखाई देती है, उसे ही हम यथार्थ प्रयोजन या जरूरत कहते हैं। यह जो प्रयोजन या जरूरत संबंधी धारणा है—विशेष-विशेष क्षेत्र में विशेष-विशेष नियमों के परिमण्डल में विशेष-विशेष कार्य-कारण संबंध के आधार पर जो प्रयोजन या जरूरत होती है, उसी अर्थ में ही जरूरत या 'नेसेसिटी' शब्द का इस्तेमाल कर सकते हैं। लेकिन समस्त वस्तु जगत के परिवर्तन के पीछे एक विश्वजनीन कार्य-कारण संबंधी जरूरत (Universal singular

causal necessity) काम करती है–इस तरह सोचने से हम भाववाद के भंवर में फंस जायेंगे। इसके अलावा मार्क्सवाद जिस प्रयोजन या जरूरत की बात करता है, विज्ञान जिस प्रयोजन की बात करता है, वह प्रयोजनबोध प्रगति और समाज कल्याण के हित में प्रयोजन होता है। समाज में वर्ग-संघर्ष के विकास और प्रगति के जरिये क्रांतिकारी चेतना के क्रमविकास के रास्ते व्यक्ति के यथार्थ विकास और उन्नति के परिपूरक जो प्रयोजनबोध होता है, वही है मार्क्सवाद और विज्ञान के अर्थ में प्रयोजन या जरूरत की स्वीकृति (recognition of necessity)।

दार्शनिक चिंतन का विकास

अब मैं दर्शन के कुछ दूसरे पहलुओं के बारे में चर्चा करने की कोशिश करूंगा। आप लोग पहले ही सुन चुके हैं कि आदिम मानव का चिंतन भौतिकवादी था। समाज में भाववादी चिंतन का उन्मेष बहुत दिनों बाद हुआ था। भाववादी चिंतन आ जाने के बाद से आज तक दुनिया में भौतिकवादी व भाववादी चिंतन साथ-साथ चल रहे हैं। हालांकि दार्शनिक चिंतन की इन दोनों धाराओं की सोच-विचार के क्षेत्र में बहुत सारे परिवर्तन हुए हैं, जिनके कुछ पहलुओं के बारे में मैं पहले ही चर्चा कर चुका हूं। यहां याद रखना चाहिए कि सामंती विचारों और कूपमण्डूकता के खिलाफ दुनिया में जिस समय मानवतावादी चिंतनधारा की प्रगति हुई, उस समय मानवतावादी विचारधारा के जो प्रवक्ता थे, उन्होंने विज्ञान के आधार पर ही आगे बढ़ना चाहा था। यह वह समय था जब प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति के क्षेत्र में एक वैज्ञानिक बुनियाद रख दी गयी थी। यह कहा जा सकता है कि इन प्राकृतिक विज्ञानों की विजय यात्रा असल में कोपरनिकस से शुरू हुई थी। आगे चलकर न्यूटन ने विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में कई युगांतकारी आविष्कार किये थे। गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत, वस्तु की गति के नियम (Laws of motion) व अन्य बहुत सारे विषयों पर न्यूटन के वैज्ञानिक शोध-कार्यों और प्रस्थापनाओं ने नयी रोशनी डाली थी। फिर यह बात भी सही है कि ऐतिहासिक कारण से ही उस समय विज्ञान की प्रगति के मामले में कुछ सीमाबद्धताएं दिखाई दी थीं। जैसे यह बात ठीक है कि न्यूटन ने 'वस्तु की गति' के नियम ईजाद किये थे। इस आविष्कार

ने विज्ञान की प्रगति में खास भूमिका निभायी थी, इस बात को भी सभी जानते हैं। लेकिन वस्तु क्यों गतिशील है? वस्तु की गतिशीलता का कारण क्या है? यह उस समय मालूम नहीं था। इसलिए न्यूटन के लिए वस्तु थी जड़ वस्तु। इसी कारण से खुद एक वैज्ञानिक होने के बावजूद, न्यूटन को 'प्रथम चालक' या 'पहले धक्के' (prime mover or first implse) की बात कहनी पड़ी थी। इस बिन्दु को एक मिसाल देकर बताने से समझने में आसानी होगी। लोगों ने देखा कि फुटबॉल पर पैर से ठोकर लगाने से फुटबॉल में गति होती है या बंदूक का ट्रिगर दबाने से गोली तेज रफ्तार से आगे निकल जाती है या घड़ी में चाबी भरने से घड़ी का पेंडुलम काम करता है। इस तरह के तजुर्बे उन दिनों मनुष्य के सामने थे। इन सारे तजुर्बों के आधार पर, इन सारी घटनाओं को देखकर न्यूटन ने निष्कर्ष निकाला था कि वस्तु की गति का कारण वस्तु के बाहर है (cause of motion is external)। इसी कारण से उन्होंने सोच लिया था कि 'प्राइम मूवर' ने वस्तु में अनंत काल के लिए गति प्रदान कर दी है और इसी कारण से वस्तु गतिशील है और वह गति नियम द्वारा संचालित हो रही है। जिन नियमों के आविष्कारक खुद न्यूटन ही थे, उनके सब के आधार पर जिस मेकैनिक्स या यांत्रिकी की अवधारणा उभरकर आयी, उसे ही न्यूटनीय यांत्रिकी (Newtonian mechanics) कहा गया है। इस यांत्रिकी की मुख्य बात क्या है? इस यांत्रिकी की मुख्य बात यही है कि किसी भी वस्तु को गतिशील करने के लिए पहले एक गति या धक्का देना जरूरी होता है। उस जमाने का विज्ञान इससे परे नहीं जा सका था। हालांकि वस्तु क्यों गतिशील है, इसकी वजह क्या है, आज आधुनिक विज्ञान के लिए यह कोई अज्ञात विषय नहीं है।

वस्तु के चरित्र के बारे में एक और बिन्दु पर यहां जिक्र करना जरूरी है। वस्तु को तोड़ते-तोड़ते छोटे से छोटे कण के तौर पर उन दिनों परमाणु (atom) पाया गया था। इस परमाणु को उन दिनों तोड़ा नहीं जा सका था। उसे इसलिए नहीं तोड़ा जा सका था कि उसे तोड़ने लायक जरूरी उपकरण व परीक्षण-निरीक्षण के तरीके उन दिनों खोजे नहीं गये थे। इस कारण से बहुत दिनों तक इस परमाणु (atom) को अविभाज्य (indivisible) समझा गया था। उस युग के भाववादी

दार्शनिकों ने इस परमाणु को ही करीब-करीब ब्रह्मा के आसन पर बिठा दिया था। बाद में यह गलत अवधारणा टूट गयी। विभिन्न परीक्षण-निरीक्षणों से यह साबित हो गया कि परमाणु या एटम को भी आगे और तोड़ा जा सकता है और यह परमाणु (atom) भी विभिन्न तरह के और छोटे-छोटे वस्तु-कणों से बना हुआ है। इसके फलस्वरूप विज्ञान की पुरानी अवधारणाओं के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की जो यह अवधारणा है कि हर वस्तु अन्य कुछ छोटे-छोटे वस्तु-कणों से बनी हुई है और वे सभी आपस में द्वन्द्व-संघात में लगे हैं—वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षणों के जरिये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की यह अवधारणा और भी ज्यादा मजबूती के साथ स्थापित हुई है।

अब, फिर से पहले की चर्चा पर वापस लौट आया जाये। अत: न्यूटन का बल का नियम अर्थात यांत्रिकी (mechanics) और उस समय के परमाणु सिद्धांत (atomic theory) के आधार पर जिसकी अन्य बातों के अलावा एक मूल बात यह थी कि एटम या परमाणु को तोड़ा नहीं जा सकता है—उन दिनों जो भौतिकवाद विकसित हुआ, उसे यांत्रिक भौतिकवाद कहा जाता है। हालांकि यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य आदिम समय में वस्तु के बारे में जो सोचता-विचारता था, उस भौतिकवादी चिंतन को आदिम भौतिकवाद कहा जाता है। वह सोच भौतिकवादी थी, इस विषय में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। फिर न्यूटन के जमाने में भी वस्तु संबंधी अवधारणा में स्वाभाविक रूप से ही ऐतिहासिक सीमाबद्धता थी। बाद में विज्ञान की जो प्रगति हुई है, खासकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिंतनधारा निर्मित होने के दौर में, वस्तु संबंधी अवधारणाएं जिस उन्नत स्तर पर पहुंची हैं, जो अवधारणाएं आधुनिक विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों की रोशनी में लगातार और भी उन्नत एवं समृद्ध हुई हैं, इससे न्यूटन के समय के भौतिकवादी चिंतन की अपर्याप्तता स्पष्ट रूप से उजागर हो जाती है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन दिनों के भौतिकवाद ने भी स्वाभाविक तौर पर वस्तु को लेकर ही माथापच्ची की थी और भौतिकवादी चिंतन को ही प्रतिबिम्बित किया था। लेकिन इस सब के बावजूद, उन दिनों भौतिकवादी चिंतन में मुख्यत: दो मौलिक

सीमाबद्धताएं-कमजोरियां अन्तर्निहित थीं या काम कर रही थीं, जिनका जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूं। इसलिए आज की वस्तु संबंधी अवधारणा के साथ अगर उन दिनों की वस्तु संबंधी अवधारणा की तुलना की जाये, तो स्पष्टतया पहले वाली की बहुत ज्यादा अपर्याप्तताएं (inadequacy) साफ नजर आयेंगी। इन अपर्याप्तताओं को मद्देनजर रखते हुए ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सरीखा एक उन्नत भौतिकवादी दर्शन निर्मित हो जाने के बाद अतीत के सभी भौतिकवादी दर्शनों को एक मायने में भाववादी दर्शन कहा जा सकता है। इसी वजह से कहा जाता है कि ये यांत्रिक भौतिकवादी अवधारणाएं वस्तु को ही लेकर क्रिया करने के बावजूद, वस्तु संबंधी सत्य को पूरी तरह से प्रतिबिम्बित नहीं कर सकीं। अर्थात वस्तु के बारे में जिस सत्य धारणा के हम अधिकारी हो पाये हैं, उसके आधार पर जांच-परख करने से ये सब यांत्रिक भौतिकवादी अवधारणाएं न केवल अधूरी हैं, बल्कि इन सब ने सापेक्ष अर्थों में कुछ असत्य धारणाओं को भी प्रतिफलित किया है। अर्थात जो सत्य नहीं है, उसी को सत्य कहकर चलाया है।

हम भाववादी क्यों नहीं हैं? भाववाद की कमी-खामी क्या है? क्योंकि भाववाद जिसे सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है, उसे युक्ति-तर्क या परीक्षण-निरीक्षण से और इतिहास से, किसी से भी साबित नहीं किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन के गति-प्रवाह के तौर-तरीकों में जिसके अस्तित्व का कहीं कोई सबूत नहीं है, उसे ही सत्य कहकर प्रचारित किया जा रहा है। फलस्वरूप सत्यदर्शन धुंधला हो जाता है। वास्तविक हालत का विश्लेषण करने के नजरिये और विचार करने की शक्ति को वह पंगु बना देता है। इसी कारण से हम भाववाद का विरोध करते हैं, ईश्वरवाद के खिलाफ हैं। अन्यथा ईश्वर के साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। हमारा मुख्य मुद्दा है सत्य का पता लगाना, सत्य की खोज करना। इसलिए हमारी लड़ाई, एक तरफ सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए वैचारिक लड़ाई है, तो दूसरी तरफ वर्ग शोषण, वर्ग शासन और पूंजीवाद के खिलाफ मानव मुक्ति के लिए लड़ाई है। जो लोग सही मायने में धर्म में विश्वास रखते हैं, शोषण-जुल्म के खिलाफ संघर्ष में हम अगर उन्हें भी शामिल करा सकें, तो वह लड़ाई लड़ते-लड़ते ही उनकी

धर्मान्धता एक दिन दूर हो जायेगी—मेरी यह बात आप लोग याद रखने की कोशिश कीजिएगा।

अब, सत्य को सही-सही नहीं समझ पाने के चलते भौतिकवाद जब समस्या सुलझाने में असमर्थ हो जाता है, तब भाववाद या अध्यात्मवाद से इसका बुनियादी तौर पर फर्क कितना रह जाता है? क्योंकि भाववाद या अध्यात्मवाद भी समस्या सुलझाने में असमर्थ है। हमारा काम सिर्फ वस्तु या भौतिकवाद कहने से ही नहीं चलेगा। वस्तु के बारे में सटीक अवधारणा तैयार करना हमारे लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस पहलू से विचार करके देखा जाये, तो इन दोनों दर्शनों में ऊपरी तौर पर बहुत फर्क रहने के बावजूद, आखिरकार उनका नतीजा तो लगभग एक जैसा ही निकलता है। इसलिए लेनिन ने कहा था कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन को छोड़कर दूसरे सभी भौतिकवादी दर्शन वस्तुतः भाववाद के सिवा और कुछ नहीं हैं। अर्थात द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को छोड़कर इतिहास में आज तक जितने भी भौतिकवादी दर्शनों का सृजन हुआ है, वे सभी भौतिकवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कसौटी पर भाववाद के ही पर्याय हैं। फिर भी एक बात मैं यहां कहना चाहता हूं कि हम जब दूसरे भौतिकवादी दर्शनों को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कसौटी पर भाववाद का ही पर्याय कहते हैं, तो इसका मतलब यह नहीं है कि उन सभी भौतिकवादी दर्शनों को हम भाववाद से ही मिलती-जुलती श्रेणी में रख देते हैं। ऐसी बात नहीं है। दरअसल, इसके द्वारा जिस बात को समझाना चाहा है, वह यह है कि दुनिया में जो भौतिकवादी चिंतनधारा बहुत दिनों से चली आ रही थी, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उसी रास्ते पर चलते-चलते उभरकर आयी सर्वश्रेष्ठ चिंतन पद्धति है।

सिर्फ निरीश्वरवादी होने से ही कोई नहीं बन जाता द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी

जैसे मान लीजिए कि मानवतावादियों में अनेक ऐसे हैं, जो खुद को निरीश्वरवादी (atheist) मानते हैं। उनमें से भी कुछ ऐसे हैं, जो ईश्वरवाद या मार्क्सवाद, पार्टी राजनीति या वर्ग-संघर्ष के सिद्धांतों को समाज की सभी बुराइयों के लिए बराबर जिम्मेदार मानते हैं। उनकी

मानसिकता दूसरी तरह की है। उनमें बहुत-से आदमी ऐसे हैं, जिनका व्यक्ति-स्वतंत्रता या व्यक्ति-स्वाधीनता संबंधी मुद्दा ही मुख्य मुद्दा है। उन लोगों की यह व्यक्ति स्वतंत्रता की अवधारणा वस्तुनिष्ठ स्थिति या सामाजिक स्थिति पर निर्भरशील नहीं है। यह काफी हद तक अति स्वतंत्रता की अवधारणा है—व्यक्ति की परम स्वतंत्रता की अवधारणा है (absolute freedom of the individual)। जो सारे बुद्धिजीवी इस तरह की विचारधारा के पैरोकार हैं, वे विज्ञान को ही आधार करके चलना चाहते थे। लेकिन उन्होंने एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि विज्ञान विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसी किसी भी सत्ता के अस्तित्व को नहीं मानता जो अपरिवर्तनीय या शाश्वत हो। फिर कुछ बुद्धिजीवी ऐसे भी हैं जो ईश्वर की पूजा-पाठ में विश्वास नहीं रखते हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते हैं और गिरजाघर में जाने को पाखण्ड या अज्ञानता मानते हैं। लेकिन वे हर क्षेत्र में विज्ञान के निष्कर्षों के अनुरूप अपने चिंतन को संचालित करने में नाकाम रहे। नतीजतन, आखिरकार वे भाववाद के ही चंगुल में जा फंसे। बर्टण्ड रसेल, सार्त्रे या हक्सले सरीखे चिंतकों के विचार हूबहू एक जैसे नहीं होने पर भी वे इस मामले में एक ही श्रेणी के हैं। वे सब कमोबेश विज्ञान के उपासक हैं और उन्होंने आम तौर पर भौतिकवाद की ही हिमायत की है। लेकिन ये सभी लोग मानवतावादी हैं और वास्तव में विचार करें तो भाववादी हैं।

हेगेल-फुयरबाख-मार्क्स

प्रसंगवश, दो एक और बिन्दुओं पर मैं कुछ कहना चाहता हूं। आप में से बहुतों को पता होगा कि दार्शनिक जगत में हेगेल का एक विशेष नाम है। मैं ऐसा सोचता हूं कि हेगेल भाववादी दार्शनिकों के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। आपने द्वन्द्ववाद के जिन आम बुनियादी नियम-सिद्धांतों या द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति की बात सुनी है, हेगेल ने ही सबसे पहले इस चिंतन को पेश किया था। इस बारे में आपने सुना होगा। हेगेल ने कहा था कि यह जो विश्व ब्रह्माण्ड है, इसमें जो विभिन्न घटनाएं-परिघटनाएं घट रही हैं, इस वस्तु जगत में जो कुछ हम देख रहे हैं, वह हर चीज परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के तहत चल रही है। लेकिन इस तरह का विश्लेषण पेश करने के बावजूद, हेगेल के दर्शन को भाववादी

दर्शन क्यों कहा जाता है, यह समझने के लिए हेगेल के दर्शन के बारे में संक्षेप में हमें कुछ चर्चा करने की जरूरत है। हेगेल ने कहा था कि दुनिया की हर चीज के अंदर द्वन्द्व मौजूद है। हर समाज अर्थात वर्ग-विभाजित समाज, हर चिंतन, हर चीज के अंदर द्वन्द्व-समन्वय की प्रक्रिया काम कर रही है और इसी द्वन्द्व के जरिये उनमें बदलाव आ रहा है। थीसिस (वाद) और एन्टीथीसिस (प्रतिवाद) के द्वन्द्व के फलस्वरूप सिन्थिसिस (संवाद) होना शुरू होता है–यह चिंतन भी हेगेल का ही चिंतन है। लेकिन उनके इतना सब कहने के बावजूद, दर्शन के क्षेत्र में आखिरकार उन्होंने जिस प्रणाली को खड़ा किया, उसमें वस्तु शाश्वत भाव की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति (dialectical expression of absolute idea) के रूप में है। अर्थात उन्होंने जिस शाश्वत भाव की बात की है, वह शाश्वत भाव द्वन्द्वात्मक है। लेकिन इसके चलते जो सवाल उठ खड़ा हुआ, वह यह है कि अगर भाव द्वन्द्वात्मक है, तो फिर साथ ही वह शाश्वत कैसे है? या विपरीत रूप से यों कहें कि भाव अगर शाश्वत है तो वह द्वन्द्वात्मक कैसे है? हेगेल ने यह मान लिया था कि भाव था आदि भाव (original idea), लेकिन जिसमें स्वविरोधी द्वन्द्व है और उसी द्वन्द्व के फलस्वरूप वास्तविक जगत की सृष्टि हुई है। संक्षेप में उनकी इस बात का अर्थ यह हो जाता है कि वास्तविक जगत एक प्रतिबिम्ब (image) है और उसी अर्थ में वह शाश्वत भाव की अभिव्यक्ति (expression of absolute idea) है। इसलिए हेगेल का द्वन्द्ववाद हो गया भाव का द्वन्द्ववाद (dialectics of idea)। वाद-प्रतिवाद-संवाद (thesis-antithesis-synthesis) हो गये चिंतन या भाव के परिवर्तन के नियम। अर्थात यह बात साफ है कि हेगेल वस्तु और भाव के बीच के आपसी संबंध और वस्तु के द्वन्द्व-संघर्ष के फलस्वरूप ही भाव की उत्पत्ति हुई है–इस प्रक्रिया को हेगेल समझ ही नहीं पाये। इसलिए हेगेल का दर्शन द्वन्द्वात्मक भाववाद (dialectical idealism) हो गया, वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) नहीं बन पाया। इसी वजह से उनका दर्शन भाववादी दर्शन हो गया।

इसके फलस्वरूप उस समय कुछ मुसीबतें भी दिखाई दी थीं। जर्मनी में हेगेल के अनुयायी दो खेमों में बंट गये थे। एक खेमा हो गया

था हेगेल के दर्शन का पूर्ण समर्थक और दूसरे खेमे का थोड़ा झुकाव वामपंथ की ओर था। वे लोग 'लेफ्ट हेगेलियन्स' कहलाये। इसी वामपंथी रुझान वाले खेमे में फुयरबाख भी थे। फुयरबाख ने हेगेल के बारे में कहा कि उन्होंने वैसे तो एक बढ़िया दार्शनिक प्रणाली खड़ी की है। उन्होंने शाश्वत भाव की जो बात कही है, केवल उस शाश्वत भाव को लेकर ही गड़बड़ी है। इसलिए फुयरबाख ने कहा कि शाश्वत भाव जरूरी नहीं है और हेगेल ने इसे संकल्पना के तौर पर (hypothetically) मान लिया है।

लेकिन इससे फुयरबाख भी समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं कर पाये, क्योंकि वे मूल स्थान को पकड़कर आगे बढ़ नहीं पाये। जो शाश्वत भाव (absolute idea) समस्या पैदा कर रहा है, उन्होंने उसे छोड़ देने का सुझाव दिया। उन्होंने सोचा कि अगर हेगेल के सिद्धांत से शाश्वत भाव की इस बात को छोड़ दिया जाये, तो बात बन जायेगी। हालांकि उन्होंने कहा कि वस्तु मन की रचना नहीं है, बल्कि मन ही वस्तु की सबसे उन्नत रचना है। लेकिन वे वस्तु और भाव के बीच पारस्परिक द्वन्द्वात्मक संबंध के क्षेत्र में वैज्ञानिक विश्लेषण क्या है–इस महत्वपूर्ण पहलू को समझ नहीं पाये। यही वजह है कि फुयरबाख भी अंत में अपनी रक्षा नहीं कर पाये। वस्तु जगत के परिवर्तनों की व्याख्या देने के बावजूद हेगेल के शाश्वत भाव का विरोध करते हुए भी उन्होंने आदर्शवाद पर इतना जोर दे दिया कि मानो सदाचार या आदर्शवाद शाश्वत, अचल और जड़ हो। उन्होंने नीति-नैतिकता के क्षेत्र में ऐसे कुछ स्थाई अनुशासनों, मूल्यबोधों का बंधन लगा दिया था, जो मूल्यबोध और सदाचार मनुष्य का सदा-सदा के लिए मार्गदर्शन करेंगे। उन्होंने मान लिया कि अगर ऐसा नहीं हुआ, तो मानव कल्याण का रास्ता सदा के लिए बन्द हो जायेगा। उन्होंने इस आचार-संहिता पर इतना ज्यादा जोर दिया कि उनके चिंतन में स्थिरता-शाश्वतता और जड़ता दिखाई दी। इसलिए इतनी सारी बातें कहने के बावजूद आखिरकार फुयरबाख भी भाववाद के चंगुल में फंस गये थे और वे मानवतावादी बनकर रह गये थे। इतिहास में आज भी वे मानवतावाद के प्रस्थापकों में से एक माने जाते हैं। उन्होंने अपने दर्शन में नीति-नैतिकता (morals and ethics) को ही बड़ा भारी महत्व दिया

है, जिन्हें वे अपरिवर्तनशील और शाश्वत मानते थे। अर्थात उन्होंने अपने इस वक्तव्य को ही नकार दिया था कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ, वस्तु में परिवर्तन के साथ-साथ भाव जगत में भी परिवर्तन होता है। इसलिए फुयरबाख का मानवतावाद या मानवीय मूल्यबोध संबंधी अवधारणा अचल, स्थिर, जड़ एवं अपरिवतर्नशील हो जाने से दरअसल वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए स्वीकार्य नहीं है। फलस्वरूप उनकी सोच भी भाववादी सोच का ही एक दूसरा रूप या पर्याय बनकर रह गयी। फुयरबाख ने अपने दर्शन से शाश्वत भाव (absolute idea) को खारिज कर दिया था, लेकिन इसके बावजूद आखिरकार नीति-नैतिकता और अपनी नैतिक आचार-संहिता को शाश्वत सत्य के रूप में बरकरार रखना चाहा, भाव को वस्तु की उपज नहीं, बल्कि उसे वस्तु से परे एक अलग स्थान दिया था।

हेगेल और फुयरबाख की इसी पृष्ठभूमि में मार्क्स का आविर्भाव हुआ। मार्क्स भी हेगेल के ही छात्र थे। एक बार उन्होंने हेगेल के दर्शन के बारे में टिप्पणी करते हुए कहा था कि हेगेल के दर्शन में बाकी सब कुछ तो ठीक है, सिर्फ यही एक काम करना पड़ेगा कि वह जो 'सिर के बल खड़ा है, उसे पैरों के बल पर खड़ा कर देना होगा'। फिर फुयरबाख जो सिद्धांत खड़ा कर गये थे उसके बारे में भी मार्क्स ने अपना मत साफ-साफ रखा था। उन्होंने कहा था कि जिस तरह हेगेल ने शाश्वत भाव (absolute idea) जैसे अवैज्ञानिक चिंतन को जन्म देकर, 'द्वन्द्ववाद' के बारे में अपने इतने शानदार विश्लेषण को भी आखिरकार भ्रम की ओर धकेल दिया था, उसी तरह फुयरबाख भी भौतिकवाद को इतनी तवज्जो देने के बावजूद, नीति-नैतिकता या अपनी नैतिक आचार-संहिता को अपरिवर्तनशील या शाश्वत मानकर चलने से आखिरकार मानवतावादी ही बनकर रह गये थे। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि वे दरअसल भौतिकवाद को ही नकार बैठे। फुयरबाख ने नीति-नैतिकता के बारे में जो प्रस्थापना खड़ी की थी, उसके बारे में मार्क्स ने कहा था कि फुयरबाख की प्रस्थापना अगर यही है, तो फिर भौतिकवाद उसमें बचा ही कहां? मार्क्स ने दिखाना चाहा था कि हेगेल के द्वन्द्ववाद में गलती बस इतनी थी कि वे यह मानकर चल रहे थे कि वस्तु का सृजन भाव से ही हुआ है। सारी विपत्ति की जड़ यही

गलती थी, वरना उनके द्वन्द्ववाद में मूलतः कुछ भी गलत नहीं था। लेकिन इतिहास और विज्ञान से आज हम जान पाये हैं कि मानव मस्तिष्क के एक विशेष किस्म के क्रियाकलाप का ही फल है 'मन' (a particular function of the human brain)। यह जो मानव मस्तिष्क है यह भी वस्तु-कणों से बना है। हम पहले ही चर्चा करके दिखा चुके हैं कि मानव मस्तिष्क की उन्नत बनावट के फलस्वरूप उसने चिंतन करने की जो विशेष क्षमता हासिल कर ली है, उसके साथ वास्तविक जगत या बाहरी दुनिया जुड़ जाने से ही भाव या चिंतन पैदा होते हैं। इसलिए मार्क्सवाद में भाव या चिंतन-विचार को वस्तु की क्रिया की उपज (product of matter) कहा जाता है। वस्तु और मन का संबंध यांत्रिक नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक संबंध है। वस्तु जगत और आस-पास की सामाजिक व्यवस्था से हमारा भाव जगत ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है। इन दोनों के बीच संबंध द्वन्द्वात्मक है। ये एक-दूसरे के ऊपर प्रभाव डालते हैं।

समाज में सदाचार, आदर्श, मूल्यबोध और नीति-नैतिकता जीवन की जरूरत के आधार पर ही पैदा होते हैं। लेकिन सदाचार और नीति-नैतिकता की इन अवधारणाओं का कोई शाश्वत रूप नहीं होता है। सदाचार, नीति-नैतिकता और मूल्यबोधों के बिना कोई भी समाज आगे नहीं बढ़ सकता। लेकिन आज जो सदाचार-आदर्शवाद समाज को आगे बढ़ाने में मदद कर रहा है, आने वाले दिनों में वही सदाचार-आदर्शवाद समाज के विकास में लगाम लगा देता है, समाज की प्रगति में अवरोध पैदा कर देता है और घोर प्रतिक्रियावादी सदाचार-आदर्शवाद में तब्दील हो जाता है। ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि इंसान की जरूरतें एक जगह ठहरी नहीं रह सकती हैं। इसलिए जिन्दगी की नयी जरूरतें पूरी करने के लिए नया सदाचार-आदर्शवाद पैदा होगा ही। इन सब विषयों को केन्द्र करके उन दिनों जो सारे सवाल उठ खड़े हुए थे, उन सवालों का मुकम्मल तौर पर सही जवाब न तो हेगेल दे पाये थे और न ही फुयरबाख। सबसे पहले मार्क्स ने ही इन दोनों दार्शनिकों के चिंतन की मदद लेकर और फिर उनमें विच्छेद (break) लाकर उस चिंतन को और भी समृद्ध करते हुए सही और सत्य धारणा की नींव रखी। उन्होंने सिर्फ भाव और वस्तु के बीच पारस्परिक संबंध को ही

नहीं दिखाया था, बल्कि साथ ही साथ उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी दिखाया था कि इन दोनों में से वस्तु ही पहले (prior) है। यह जो वस्तु की पहले विद्यमान होने (priority) की अवधारणा है, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे किसी तरह भी गड्डमड्ड करने से काम नहीं चलेगा। हम देख पाये कि बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति ने बराबरी, भाईचारे और आजादी की जो अवधारणा तैयार की थी, उससे भी ऊपर उठकर, उस स्तर को पार करके सर्वोत्कृष्ट रूप में मार्क्स ने जिन्दगी के हर पहलू को समेटे हुए नीति-नैतिकता, मूल्यबोध–इन सबको मिला करके, समाजवादी या साम्यवादी अवधारणा पैदा की थी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का एक पूरा ढांचा खड़ा किया था, जिस आदर्शवाद के आधार पर लोग लड़ाई लड़ेंगे, मंजिल तक पहुंचेंगे, मजदूर वर्ग का एक नया समाज बनायेंगे, नवजीवन का निर्माण करेंगे–मेरे ख़याल से इसी में निहित है मार्क्सवादी दर्शन की महानता।

आप जानते हैं कि वस्तु संबंधी पुरानी अवधारणा भी बदल गयी है। न्यूटन के समय वस्तु को जहां जड़ वस्तु के रूप में समझा गया था, वहीं आधुनिक विज्ञान के अनुसंधानों की वजह से वह अवधारणा भी बदल गयी है। आज की अवधारणा के अनुसार वस्तु है द्वन्द्वात्मक वस्तु–अब यहां यांत्रिकता के लिए कोई जगह नहीं है। इसलिए मार्क्सवाद का कहना है कि विश्व ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी हम देखते हैं, वह सब कुछ वस्तु का ही विविधतामय प्रकटीकरण है। चाहे यह हमें मालूम हो या नहीं, लेकिन हकीकत यही है कि हर विशेष वस्तु, हर परिघटना, हर सत्ता में द्वन्द्व-संघर्ष हो रहा है। तब मार्क्सवादियों का काम क्या है? मार्क्सवादियों का काम है हर मामले में द्वन्द्व-संघर्ष को खोज निकालना, उसका चरित्र निर्धारित करना और उसके आधार पर ही समाधान का रास्ता तलाशना। इसलिए द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति जो किसी भी चीज को परिवेश से काटकर अलग-थलग करके विचार नहीं करती है, बल्कि इसके अन्त:संबंध में जांच-परख करती है, जब तक हम इस विचार पद्धति को ठीक से नहीं अपना पायेंगे, तब तक हम उन समस्याओं के समाधान का रास्ता खोज नहीं पायेंगे। यह बात भी याद रखें कि किसी भी वस्तु या परिघटना के अंदर जो परिवर्तन होते जा रहे हैं, विभिन्न शक्तियों के बीच द्वन्द्व-संघर्ष और समन्वय की

जो प्रक्रिया काम कर रही है, उसके बारे में हमारी अवधारणा लगातार स्पष्ट होती जा रही है। विभिन्न तरह के परिवर्तनों की रोशनी में हमारे विचार अधिकाधिक समृद्ध होते जा रहे हैं और लगातार समृद्ध होते जायेंगें। अगर हम विज्ञान को मानते हैं, तो इस बात को नकारने का कोई उपाय नहीं है। यह बात अगर सही है, तो क्या यह दलील किसी तरह दी जा सकती है कि मार्क्सवादी चिंतन पुराना हो गया या काम का नहीं रह गया है और वह जड़ चिंतन है?—हरगिज नहीं, बल्कि एक तरफ तो विज्ञान के आविष्कारों के आधार पर वस्तु के बारे में उन्नत और विकसित अवधारणा की लगातार गहरी समझ हासिल करने, दूसरी तरफ, परिवर्तन के कारणों की मर्मवस्तु समझ पाने से यह बात समझने में कोई दिक्कत नहीं होगी कि मार्क्सवादी विचार पद्धति को मार्क्सवाद के आम बुनियादी नीति-सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए ही और भी उन्नत एवं समृद्ध करना होगा और हर समस्या के मामले में इस मार्क्सवादी विचार पद्धति को सही तरीके से अमल में लाकर ही समाधान का रास्ता खोज निकालना होगा। लेकिन यह काम का नहीं रह गया—ऐसा कहकर मार्क्सवाद को नकारने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता है।

फिर देखिए, मार्क्सवाद का कहना है कि दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका वस्तु के साथ कोई संबंध नहीं है। यह दुनिया है वस्तुमय। मैं पहले भी चर्चा कर चुका हूं कि यहां तक कि मन के साथ भी वस्तु का अभिन्न संबंध है और इस वस्तु के क्रियाकलाप का तौर-तरीका यह है कि इनमें से कोई भी किसी से संबंधरहित नहीं है। हर वस्तु-कण दूसरे वस्तु-कण के साथ परस्पर निरंतर द्वन्द्व-संघर्ष में लिप्त है। फिर हर वस्तु-कण में परस्पर-विरोधी शक्तियों के बीच अन्दरूनी द्वन्द्व है। इन दोनों तरह के द्वन्द्वों के नतीजे के तौर पर ही वस्तु लगातार परिवर्तित होती जा रही है। इसलिए द्वन्द्व का चरित्र दो प्रकार का है—अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व। इनके बारे में विस्तार से चर्चा मैं बाद में करूंगा। यहां मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूं कि द्वन्द्व के इस रास्ते पर चलकर ही प्रकृति जगत में हर परिवर्तन हो रहा है। इसलिए संघर्ष या लड़ाई को दरकिनार करके मार्क्सवादी नहीं बना जा सकता है।

मजदूर वर्ग का दर्शन और मार्क्सवाद

इस संदर्भ में एक और पहलू पर मैं चर्चा कर दूं। कुछ मार्क्सवादी दार्शनिकों ने मार्क्सवाद को मजदूर वर्ग का दर्शन कहा है। इस विषय को अगर सही तौर पर समझा जाये तो कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए, नहीं तो कुछ उलझन पैदा हो सकती है। आज मानव समाज के विकास का सवाल, सारे संकटों से मुक्ति पाने का सवाल और सामाजिक प्रगति को बेरोकटोक जारी रखने का सवाल सर्वहारा क्रांति या समाजवादी क्रांति और इस काम को करने लायक सही मजदूर वर्ग की पार्टी और देश में उसका नेतृत्व कायम करने के साथ ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है और इन सब क्रियाकलापों के पीछे मार्गदर्शक शक्ति है मार्क्सवाद। अर्थात पूरी मानव सभ्यता के स्वार्थ के साथ मजदूर वर्ग का स्वार्थ आज एकाकार हो गया है और इस अर्थ में ही आज मजदूर वर्ग पूरे मानव समाज और मानव सभ्यता के स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करता है। लिहाजा, आज की दुनिया में जहां पूरे समाज की मुक्ति का सवाल मजदूर वर्ग की मुक्ति के सवाल के साथ ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है और मार्क्सवाद जहां ऐतिहासिक रूप में ही मजदूर वर्ग के हाथों में इसके मुक्ति-संघर्ष का हथियार बन गया है, वहां सिर्फ इसी अर्थ में मार्क्सवाद को मजदूर वर्ग का दर्शन कहा जा सकता है।

लेकिन इस प्रसंग में एक और पहलू की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। अगर मार्क्सवाद को सिर्फ मजदूर वर्ग का दर्शन कहा जाता है, तो समाज के विशिष्ट बुद्धिजीवी वर्ग की भावनाओं को कुछ ठेस पहुंच सकती है। मार्क्सवाद की शिक्षाओं के अनुसार हम जानते हैं कि मानव प्रगति का इतिहास द्वारा निर्धारित जो रास्ता है, उसी रास्ते पर चलते हुए एक न एक दिन मानव समाज शोषण से मुक्त एक वर्गविहीन समाज व्यवस्था में कदम रखेगा और यह इंसान के सचेत और सही भूमिका अदा करने पर निर्भर करता है। स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठ खड़ा होता है कि अगर मार्क्सवाद को हम वर्ग दर्शन अर्थात मजदूर वर्ग का दर्शन कहेंगे तो उस वर्गविहीन समाज में मार्क्सवाद की कार्यकारिता क्या खत्म हो जायेगी? इस सवाल के जवाब में साफ तौर पर यह समझ लेना चाहिए कि वर्गविहीन समाज में भी मार्क्सवाद की कार्यकारिता खत्म हो जाने का

कोई सवाल ही नहीं उठता है और न ही उठ सकता है। क्योंकि जैसे विज्ञान की प्रगति और उपलब्धियों का सफर कभी खत्म होने वाला नहीं है, वह लगातार विकसित और समृद्ध होता जायेगा, वैसे ही मार्क्सवाद भी एक समग्र विज्ञान (comprehensive science) के रूप में या सभी विज्ञानों के विज्ञान (science of all sciences) के रूप में लगातार विकसित और समृद्ध होता जायेगा और यह अधिकाधिक सृजनात्मक चरित्र हासिल करता जायेगा। इसलिए, सुदूर भविष्य में भी मार्क्सवाद समाज की प्रगति के लिए सटीक मार्गदर्शन करेगा और दुनिया के परिवर्तन के नियमों को समझने में मदद करेगा। इसलिए मैं कह रहा था एक विशेष परिपेक्ष्य में मौजूदा वर्ग-विभाजित समाज में मजदूर वर्ग की भूमिका को समझने के लिए और यह दिखाने के लिए कि समाज के स्वार्थ के साथ मजदूर वर्ग का स्वार्थ जहां ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है, मार्क्सवाद को मजदूर वर्ग का दर्शन कहा जा सकता है। फिर भी मार्क्सवाद की जो सर्वजनीन अपील और विश्व दृष्टिकोण है और विज्ञान आधारित दर्शन के रूप में इसकी जो अमोघ कार्यकारिता है, लगता है कि उसे अनजाने में ही इससे कुछ हानि पहुंच सकती है।

वस्तु के अंदर ही है वस्तु की गति का कारण

अब, फिर वस्तु के बारे में चर्चा पर वापस आया जाये। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि न्यूटन के समय में वस्तु को जड़ वस्तु के रूप में सोचा गया था, क्योंकि उस समय वस्तु की गति का कारण मालूम नहीं हुआ था और विज्ञान के सापेक्षतः पिछड़ेपन के कारण वस्तु संबंधी अवधारणा भी उन दिनों काफी हद तक पिछड़ी हुई थी। आज विज्ञान के हर छात्र को मालूम है कि कोई भी वस्तु जड़ (inert) या स्थिर (static) नहीं है। वस्तु के अस्तित्व के एक रूप को द्रव्यमान (mass) कहा जाता है, वहीं वस्तु के अस्तित्व के दूसरे रूप को ऊर्जा (energy) कहा जाता है। इस द्रव्यमान व ऊर्जा को लेकर ही वस्तु (matter) अस्तित्व में है। अब ऊर्जा को भी अवस्तु (non-material) नहीं समझा जाता है। परमाणु (atom) के विखण्डन, रेडियोधर्मिता (radioactivity) और सापेक्षतावाद (theory of relativity) के सिद्धांत आदि से प्राप्त हुए ज्ञान से वस्तु के बारे में आज जो अवधारणा बन

चुकी है, उससे वस्तु की गति का मूल कारण वस्तु से बाहर देखने की कोई जरूरत नहीं रह गयी है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि यह भी स्थापित हो चुका है कि वस्तु की जो तीनों अवस्थाएं हैं–ठोस, तरल और गैसीय अवस्था–इन तीनों अवस्थाओं में से केवल तरल व गैसीय अवस्था में ही नहीं, बल्कि ठोस अवस्था में भी गतिशीलता है। वस्तु की ठोस अवस्था की गतिशीलता (kinetics of solid state) आज विज्ञान के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में शामिल है। यहां गतिशीलता कहने का अभिप्राय ठोस वस्तु की अन्दरूनी गतिशीलता को ही समझा जाता है। इन सब को मद्देनजर रखते हुए आधुनिक विज्ञान का निष्कर्ष है कि वस्तु की गति का कारण वस्तु के अंदर ही मौजूद है, न कि बाहर (basic cause of motion of matter is therefore internal)। इसके अलावा, विज्ञान का यह कहना है कि दुनिया की हर वस्तु सतत परिवर्तनशील है। सामाजिक अवस्थाएं, कानून-कायदे, नीति-नैतिकता, विचार, आदर्श-सदाचार, मूल्यबोध, यहां तक कि सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु-कण सहित कुछ भी स्थिर पड़ा नहीं रहता है। इसलिए विज्ञान में आज गति को वस्तु के अस्तित्व का ढंग (motion is the mode of existence of matter) कहा गया है। 'वस्तु अस्तित्व में है'–इसका मतलब ही है कि वह गति में है। बगैर गति के वस्तु का अस्तित्व असंभव है। वस्तु निरंतर गतिशील है। गति वस्तु के अस्तित्व का ढंग (mode) है। यही है आधुनिक विज्ञान में वस्तु का गति संबंधी सिद्धांत।

कुछ नहीं होती परम शून्यता (absolute vaccum)

वस्तु की गति के बारे में इस अवधारणा के साथ दो और विषय जुड़े हुए हैं। ये हैं स्थान और काल (space and time)। एक समय था जब हम खाली जगह को वैक्यूम (vaccum) अर्थात निर्वात या शून्य स्थान मानते थे। लेकिन वास्तविकता यह है कि दुनिया में परम शून्य स्थान (absolute vaccum) जैसा कुछ नहीं होता। ब्रह्माण्ड में जिसे हम खाली जगह समझते हैं, वह भी सापेक्ष रूप में ही खाली जगह है, एबसोल्यूट अर्थ में नहीं। इस सौरमण्डल से परे तारों के बीच के स्थान (inter steller space) को भी एक समय शून्य स्थान (vaccum) समझा जाता था। लेकिन आज हम जान चुके हैं कि जिसे हम स्थान (space)

कहते हैं, वह भी वस्तु का ही स्थान (space) है। इसलिए तारों, आकाशीय पिण्डों के बीच का स्थान (inter steller space) भी वस्तु से खचाखच भरा हुआ है। यहां वस्तु मुख्यत: विकिरण (radiation) के रूप में है।* आधुनिक विज्ञान की इन सब अवधारणाओं के पनपने के बाद प्रकाश के फैलने (propagation of light) के बारे में भी अवधारणा बदल चुकी है। विज्ञान के छात्र जानते हैं कि एक समय प्रकाश के फैलने की व्याख्या तरंग सिद्धांत (wave theory) के द्वारा की गयी थी। तरंग सिद्धांत के सहारे प्रकाश के फैलने की व्याख्या करते हुए वैज्ञानिकों को स्वाभाविक रूप में ही मानकर चलना पड़ा कि चूंकि खाली स्थान से प्रकाश नहीं फैल सकता है, इसलिए संकल्पना (hypothesis) के तौर पर मान लिया गया था कि जिसे हम खाली स्थान समझते हैं, वहां भी एक माध्यम (medium) मौजूद है, जिसे 'ईथर' कहा गया था। 'ईथर' के बारे में सोचा गया था कि यह एक ऐसा माध्यम है जिसका द्रव्यमान नहीं है, लेकिन तन्यता (elasticity) है। लेकिन कुछ दिनों में ही परीक्षण-निरीक्षण के द्वारा वैज्ञानिकों को इस संकल्पना के सारहीन या खोखली होने के बारे में पता चल गया। स्वाभाविक रूप से ही उनके मन में यह सवाल पैदा हुआ कि यह जो तन्यता की बात कही जा रही है, वह किसकी तन्यता है? वह भी इसलिए कि द्रव्यमान (mass) अगर न रहे तो तन्यता कैसे रह सकती है? तन्यता वस्तु का ही एक गुणधर्म होने से द्रव्यमान के बगैर तन्यता अस्तित्व में नहीं रह सकती। आज निरीक्षण-परीक्षणों और नयी धारणाओं के आधार पर 'ईथर' की संकल्पना को तिलांजलि दे दी गयी है। इसलिए मैं कह रहा था कि आज यह प्रमाणित सत्य है कि दुनिया में कहीं भी जरा-सी भी जगह खाली नहीं है।** 'वस्तु' है–इसका मतलब ही है कि वह कुछ न कुछ स्थान घेरती है और वह स्थान वस्तु का ही स्थान है, यह भी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं।

---

* वैज्ञानिक शोधों से पता चला है कि यहां गैस और धूल-कण भी हैं।

** वैज्ञानिक मैक्सवेल (Maxwell) ने यह स्पष्ट तौर पर कहा (1873):
"There can be no doubt that the interplanetary and interstellar space are not empty but occupied by a material substance or body, which is certainly the largest, and probably the most uniform body of which we have any knowledge."

वस्तु से स्वतंत्र समय की अवधारणा विज्ञान-विरोधी

अब समय या काल (time) के बारे में कुछ चर्चा की जाये। समय या काल से हम क्या समझते हैं? कोई भी परिवर्तन होने के लिए जो काल अवधि (period) लगती है, उसे ही हम समय या काल कहते हैं। इसी तरह वस्तु के किसी भी रूपान्तरण की काल अवधि को ही हम समय कहते हैं। इसलिए वस्तु के अस्तित्व से परे, उसकी गति या परिवर्तन से अलग-थलग समय का कोई अस्तित्व भी नहीं हो सकता। अर्थात वस्तु के अस्तित्व को स्थान-काल (time and space) के अस्तित्व के रूप में ही समझना होगा। अर्थात जिस तरह वस्तु को समय और स्थान से अलग-थलग सोचा भी नहीं जा सकता, ठीक उसी तरह समय और स्थान को भी वस्तु से अलग-थलग नहीं किया जा सकता। अत: वस्तु अस्तित्व में है, इसका मतलब ही है कि वह समय में ही अस्तित्वमान है और वह समय के साथ कदम से कदम मिलाते हुए परिवर्तित हो रही है। यही वजह है कि समय और स्थान को कहा जाता है कि स्थान-काल वस्तु के अस्तित्व की शर्त (condition of existence of matter) है। गति (motion) क्या है? गति वस्तु के अस्तित्व का ढंग है। (motion is the mode of existence of matter)। चूंकि समय को वस्तु से अलग-थलग नहीं किया जा सकता, इसलिए वस्तु के अस्तित्व से परे शाश्वत समय (absolute time) की अवधारणा भी कपोल कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है और किसी खास समय में वस्तु या इस वस्तु जगत का किसी ने सृजन किया–यह अवधारणा भी सारहीन है। क्योंकि हम तर्क की खातिर अगर मान भी लें कि किसी एक खास वक्त पर वस्तु या वस्तु जगत का सृजन हुआ है, तो साथ ही साथ एक सवाल उठ खड़ा हुए बिना नहीं रह सकता कि अगर एक खास पल में वस्तु या वस्तु जगत का सृजन हुआ, तो उससे पहले वाले पल को हम कैसे समझ पायेंगे? तब तो हमें यह मानकर चलना होगा कि उस पल से पहले वस्तु, द्रव्यमान, ऊर्जा, स्थान इत्यादि कुछ भी अस्तित्व में नहीं हुआ करता था। इसलिए अगर यह सच है, तो वस्तु के अस्तित्व से स्वतंत्र, उसकी गति व परिवर्तन से स्वतंत्र समय के अस्तित्व की किसी तरह कल्पना करना भी क्या संभव है? क्या ऐसा कभी हो सकता है? हालांकि किसी एक विशेष वस्तु की

उत्पत्ति और इसके रूपान्तरण की बात तो ठीक है, लेकिन एक खास पल में समग्र वस्तु या वस्तु जगत के सृजन की बात बिल्कुल विज्ञान-विरोधी है। इसके अलावा, विज्ञान के बारे में जिनका प्राथमिक ज्ञान भी है, वे सभी जानते हैं कि किसी न किसी वस्तु से शुरू किये बिना किसी भी वस्तु को बनाया नहीं जा सकता है (Out of nothing matter can not be created)। ठीक इसी तरह वस्तु के रूप (form) में परिवर्तन लाना तो संभव है या यहां तक कि द्रव्यमान (mass) को ऊर्जा (energy) में भी तब्दील किया जा सकता है, लेकिन वस्तु का सृजन या ध्वंस नहीं किया जा सकता। अर्थात संक्षेप में कहें तो वस्तु के सृजन या ध्वंस करने का विचार पूरी तरह से अवैज्ञानिक है। लेकिन, विज्ञान के इतने सारे आविष्कारों के बावजूद कई लोग अभी भी वस्तु जगत के रचयिता को खोजते फिर रहे हैं और शाश्वत काल की कल्पना करके चलते हैं। यह शाश्वत काल की अवधारणा इसी वजह से कपोल कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है।

वस्तु के आदि या उसकी उत्पत्ति का सवाल

आप जानते ही हैं कि दुनिया का कहें या मनुष्य का कहें, इनका रचयिता कौन है–इनका आदि क्या है, इनकी शुरुआत कैसे हुई–इन सवालों ने मानव मन को बार-बार झकझोरा है। विज्ञान और भौतिकवादी दर्शन से बहुत कुछ जानने के बावजूद ये सवाल बहुत सारे लोगों के मन को व्यग्र करते रहे हैं कि हमारी शुरुआत कहां से हुई है और अंत कहां होगा? अभी भी हमें बार-बार इन सवालों से रूबरू होना पड़ता है। यह बात ठीक है कि किसी दिन ये सवाल ज्ञान जगत के बहुत ही गंभीर सवाल समझे जाते थे। लेकिन आज विज्ञान की प्रगति के पैमाने से विचार करने से इस तरह के सवालों को अज्ञानता से पैदा माना जाता है। क्योंकि विज्ञान में आज मूल या आदि कहने से किसी एक खास चीज या परिघटना का मूल या आदि समझा जाता है और अंत कहने से तात्पर्य है किसी एक खास चीज का अंत। तमाम वस्तुजगत के आदि या अंत का विचार आज विज्ञान में मान्य (tenable) नहीं है। अगर एक दूसरे पहलू से इस विषय की व्याख्या करके बतायी जाये, तो समझने में सहूलियत होगी। जैसे किसी भी चीज के सामने या पीछे

होने का मामला ही ले लीजिए। अगर कोई पूछे कि हमारे सामने वाली दिशा कौन-सी है या पीछे वाली दिशा कौन-सी है, तब यह समझने में हमें कोई दिक्कत नहीं होगी कि वह यहां किसी विशेष चीज के सामने या पीछे वाली दिशा की बात कर रहा है। मान लीजिए इस हॉल में हम सब जो मंच पर बैठे हुए हैं, अगर हम से शुरू किया जाये, तो हमारे सामने वाली दिशा कौन-सी होगी? इसे तीर का निशान लगाकर समझाया जा सकता है कि आप सब जो मंच की दिशा में मुंह करके बैठे मेरी चर्चा सुन रहे हैं, वे ही हमारे सामने बैठे हैं। फिर आप जो हॉल में बैठे चर्चा सुन रहे हैं अगर आपसे शुरू किया जाये कि आपके सामने वाली दिशा कौन-सी है? इसे भी तीर के निशान से समझाया जाये, तो हम सब जो मंच पर बैठे हुए हैं, आपके सामने वाली दिशा उधर है। अत: आप देखते हैं कि सामने या पीछे की धारणा एक एक विशेष स्थिति पर निर्भर करती है (with respect to or in relation to a particular position)। अर्थात किसी के कुछ सामने या पिछवाड़े होने की अवधारणा सापेक्ष है। निर्विशेष, शाश्वत (absolute) सामना या पिछवाड़ा कुछ भी नहीं होता है। ठीक ऐसे ही निर्विशेष, परम आदि या अंत जैसा भी कुछ नहीं होता है। किसी विशेष वस्तु का आदि है और अंत है। इसलिए, जिस तरह यह सवाल करना कि दुनिया में जितने सारे इंसान हैं—बताइए इन सबके सामने वाली दिशा कौन-सी है, यह सवाल निरर्थक है, उसी तरह यह पूछना बेमतलब हो जायेगा कि समूचे वस्तु जगत का आदि क्या है।

उसी तरह विज्ञान के विभिन्न उदाहरणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। मान लीजिए हम अगर पानी से शुरू करें, उसमें तेजाब डाल कर उसके अंदर विद्युतधारा प्रवाहित करें, तो पानी विखण्डित हो जाने से हम हाइड्रोजन और ऑक्सीजन नामक दो गैसें पायेंगे। यहां हमने कहां से शुरू किया है? शुरू किया है पानी से। इसका अंत कहां हो रहा है? अंत हो रहा है हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में। अब इसके विपरीत पहलू को ले लीजिए। अगर हम हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से शुरू करें और विशेष प्रक्रिया से और विशेष अनुपात में इनको मिलायें, तो इन दोनों गैसों के संयोजन के फलस्वरूप हमें पानी मिलेगा। यहां आदि क्या है? आदि है हाइड्रोजन व ऑक्सीजन। इनका अंत क्या है?

अंत है पानी। यही है मामला। इसके बाद भी अगर कोई पूछे कि दुनिया में जो कुछ है–अकार्बनिक पदार्थ, कार्बनिक पदार्थ, पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन, इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन जो कुछ भी दुनिया में है–इन सारी चीजों का साझा मूल (origin) क्या है, साझा आदि क्या है, तो स्वाभाविक तौर पर यह समझने में दिक्कत नहीं होती है कि यह सवाल करना अवैज्ञानिक है और इस तरह की अवधारणा गलत है। इसलिए मैं कह रहा था कि एक-एक विशेष वस्तु का आदि होता है, लेकिन सभी कुछ का एक ही साझा आदि (common origin) नहीं होता है, हो ही नहीं सकता है। लिहाजा, आपको यह समझ लेना चाहिए कि सामना व पिछवाड़ा, आदि और अंत–ये सभी अवधारणाएं सापेक्ष (relative) हैं।

कुछ-कुछ हलकों में सापेक्षता की अवधारणा को भी विकृत करने के प्रयास किये गये हैं। सापेक्षता के बारे में सही अवधारणा न रहने की वजह से कुछ लोगों ने यह भी दलील दी है कि हर चीज अगर सापेक्ष है तो यह भी कहा जा सकता है कि इस वस्तु जगत या दुनिया का अस्तित्व भी सापेक्ष है और यह मानव की चेतना या मन पर निर्भरशील है। दरअसल, इस तरह का सवाल जो करते हैं, उनमें सिर्फ यही नहीं कि सापेक्षता को वे अलग-थलग रूप से समझे हैं, बल्कि वे एक बहुत ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सत्य को भी भूल गये हैं। यह बात भी सर्वविदित है और इतिहास व विज्ञान से इसकी पुष्टि हो चुकी है कि वस्तु जगत के विकास के रास्ते पर एक विशेष चरण में पहुंच कर ही मानव मन का आविर्भाव हुआ है। इसलिए इस तरह के विचार का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है कि मानव चेतना और मन के अस्तित्व पर वस्तु का अस्तित्व निर्भर करता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि हमारी चेतना से निरपेक्ष तौर पर वस्तु जगत और दुनिया के अस्तित्व का यह विषय आज प्रश्नातीत तथ्य है और विज्ञान में यह तथ्य स्वीकृत है।

मैं इससे पहले ही जिक्र कर चुका हूं कि एक समय परमाणु (atom) को तोड़ा नहीं जा सका था। उस समय परमाणु को अविभाज्य (unbreakable) समझा जाता था। यह माना जाता था कि परमाणु को तोड़ा नहीं जा सकता। कुछ वैज्ञानिकों ने यह मत भी व्यक्त किया था

कि परमाणु को कभी भी तोड़ा नहीं जा सकेगा। इस अवधारणा के आधार पर ही वस्तु जगत में मौलिक कण या आधारभूत (original or fundamental) वस्तु-कण की अवधारणा पनपी थी। मौलिक कण की अवधारणा लम्बे अरसे से वैज्ञानिक या दार्शनिक चिंतन को प्रभावित करती आ रही थी। उन दिनों एक ही आवाज ने इसकी खिलाफत की थी, वह आवाज थी एंगेल्स की। उन्होंने उन सब वैज्ञानिकों के प्रति ये कहा था कि वे विज्ञान की नैतिकता के खिलाफ जा रहे हैं (They are going against the ethics of science)। क्योंकि, आज भले ही परमाणु को तोड़ा नहीं जा सका है, लेकिन यह बात कैसे मान ली जा सकती है कि परमाणु को कभी भी तोड़ा नहीं जा सकेगा? आखिरकार, वैज्ञानिकों को तो एक नैतिकता को मानकर चलना चाहिए।

आज यह बात सभी को मालूम है कि न केवल परमाणु को तोड़ा गया, बल्कि इस घटना के साथ-साथ ही वस्तु के मूल या आदि (origin) के बारे में पहले जो अवधारणा थी, वह भी धराशायी हो गयी। इसके बाद से किसी भी अत्यंत सूक्ष्म वस्तु-कण को सबका मूल या आदि नहीं समझा जाता है। वैज्ञानिक आज इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि कोई भी सूक्ष्म वस्तु-कण और भी कई सूक्ष्मतर वस्तु-कणों की समष्टि होता है (any small particle is an assembly of some other smaller particles)। अत: इस व्याख्या के बाद समस्त वस्तु जगत के एक ही मूल या आदि (common origin) का सिद्धांत (theory) और ज्यादा टिका नहीं रहता है–उसके टिके रहने की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

यह है एक पहलू। फिर इलेक्ट्रॉन के आविष्कार के बाद भी, एक समय इलेक्ट्रॉन का चरित्र क्या है? अर्थात यह कण (particle) है या तरंग (wave), इसे लेकर वैज्ञानिकों में बड़ा भारी मतभेद दिखाई दिया था। यह मतभेद बहुत दिनों तक चलता रहा। फ्रांसीसी वैज्ञानिक डी. ब्रोग्ली ने सैद्धांतिक विश्लेषण से दिखाया कि इलेक्ट्रॉन, जिसे अब तक कण (particle) ही माना गया था, साथ-साथ तरंग (wave) चरित्र भी रखता है। तब से यह मतभेद शुरू हो गया था। यह मतभेद लम्बे अरसे तक चलता रहा। वैज्ञानिकों के एक धड़े ने कुछ प्रयोग-परीक्षणों से इलेक्ट्रॉन का कण चरित्र जहां संदेहातीत रूप से साबित कर दिया था, वहीं वैज्ञानिकों के दूसरे धड़े ने दूसरे कुछ प्रयोग-परीक्षणों की मदद

से इलेक्ट्रॉन का तरंग चरित्र भी साबित कर दिया था। फलस्वरूप इस विषय को केन्द्रित करके वैज्ञानिकों में दो मत पैदा हो गये थे। वे अपने-अपने धड़े में अपना-अपना मत लेकर चलने लगे और एक दूसरे के मत को मानने से इनकार करते थे।

हम पहले भी देख चुके हैं कि वस्तु का द्रव्यमान (mass) और ऊर्जा (energy) ये दोनों ही परस्पर अंतर-संबंधित हैं और सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि एक दूसरे में रूपान्तरित भी किये जा सकते हैं। डी. ब्रोग्ली ने दिखाया कि हर वस्तु-कण का एक ही साथ कण चरित्र और तरंग चरित्र होता है। स्थिति के तारतम्य के अनुसार एक-एक परिप्रेक्ष्य में इसका कोई एक पहलू मुख्य पहलू बन जाता है, जबकि दूसरा पहलू समतुल्य रूप में कम परिलक्षित होता है। जो सब वस्तुएं इन्द्रियगोचर हैं, जिन्हें विज्ञान की भाषा में स्थूलकाय पिण्ड (macro body) कहा जाता है—इनके मामले में वस्तु का कण चरित्र या द्रव्यमान चरित्र ही अपेक्षाकृत प्रधान रहता है, तरंग चरित्र का अस्तित्व गौण या न के बराबर रहता है। इसके विपरीत, जो सब वस्तुएं आम तौर पर इन्द्रियगोचर नहीं हैं, जिन्हें वस्तु के अति सूक्ष्म कण (micro body) कहा जाता है—वस्तु के उन अति सूक्ष्म कणों के क्षेत्र में द्रव्यमान चरित्र अर्थात कण चरित्र भी किसी-किसी परिप्रेक्ष्य में परिलक्षित होता है, फिर अन्य कुछ परिप्रेक्ष्यों में तरंग चरित्र ही महसूस होता है। मैं समझता हूं कि आइंसटीन के सापेक्षता के सिद्धांत (theory of relativity) के सहारे डी. ब्रोग्ली के तरंग-कण की इस दोहरी सत्ता के सिद्धांत (wave-particle duality) और बाद में कई वैज्ञानिकों के द्वारा किये गये कुछ निरीक्षण-परीक्षणों से सुनिर्दिष्ट निष्कर्षों के आधार पर यह मतभेद एक तरह से हल हो गया, ऐसा मेरा मानना है। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में वस्तु के द्वन्द्व के अस्तित्व की जो बात सोची-विचारी गयी है, उसके साथ वस्तु के कण-तरंग के सिद्धांत का कोई विरोध नहीं है।

एक ही घटना के पीछे अनेक कारण होने की अवधारणा सरासर गलत

अब एक और विषय पर आयें। कार्य-कारण संबंध (law of

causality) के बारे में सही अवधारणा निर्मित करना विज्ञान व दर्शन का बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है। हम सभी जानते हैं कि दुनिया में जो कुछ भी घटित हो रहा है, सभी कुछ नियमों के द्वारा नियंत्रित है। अर्थात हर घटना ही नियम द्वारा नियंत्रित (law governed) है। नियम संबंधी चर्चा करने के बहुत सारे पहलू हैं, खास तौर से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था व समाजवादी अर्थव्यवस्था को निर्देशित करने वाले नियम भी चर्चा के विषय हैं। लेकिन अभी मैं इन विषयों पर चर्चा में नहीं जाना चाहता हूं। लेकिन मैं सिर्फ विज्ञान व दर्शन संबंधी सवालों से जुड़े हुए कुछ पहलुओं पर ही इस प्रसंग में चर्चा करना चाहूंगा। जैसे, एक सवाल अक्सर पूछा जाता है कि किसी भी कार्य या प्रभाव के पीछे एक से अधिक कारण काम कर सकते हैं या नहीं? इसके बारे में तर्कशास्त्री (logician) अब इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि किसी भी कार्य के पीछे एक से अधिक कारण नहीं हो सकते। उन लोगों ने साफ कहा है कि एक ही कार्य के होने के पीछे बहुत सारे कारण रहने की अवधारणा गलत है (plurality of causes is a wrong conception)। उनका वक्तव्य है कि हम जिनको कई बार कारण (cause) कहते हैं, ये कहते हैं कि एक कार्य के पीछे कई कारण हैं, दरअसल वे कारण (cause) नहीं होते हैं, बल्कि उनको कहना चाहिए कारक (factor) या परिस्थितियां (conditions)। ऐसी विभिन्न घटनाओं या परिस्थितियों के मिलन से ही कारण (cause) का सृजन होता है। अर्थात विभिन्न घटनाओं या परिस्थितियों के मिलन की प्रक्रिया में जिस क्षण कोई कारण परिपक्वता (maturity) प्राप्त करता है, उसी क्षण कोई कार्य या प्रभाव (effect) भी घटित होता है। इस पहलू को समझाने के लिए ही कहा जाता है कि जो कारण है वही है प्रभाव या प्रभाव के ठीक पहले वाला क्षण ही कारण होता है (what is cause that is effect, or cause is the immediate antecedent of effect)।

इसलिए एक कार्य के पीछे कारणों की बहुलता (plurality of cause) मानकर चलने का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। यह अवधारणा गलत होने के कारण इसे मानकर नहीं चला जा सकता। वर्ना बहुत सारी मुसीबतें हो सकती हैं। अगर यह मान लिया जाये कि कोई घटना बहुत सारे कारणों के चलते हो सकती है, तब तो फिर यह बात

सही नहीं हो सकती कि किसी विशेष समस्या के समाधान का रास्ता लाजिमी तौर पर सिर्फ एक ही है। इसका मतलब हो जायेगा कि कम्युनिस्ट, जो क्रांति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात करते हैं और यह कहते हैं कि विश्व क्रांति के जरिये समाजवाद को मजबूत करने के रास्ते व्यक्तिवाद को खत्म करके, रुचि-संस्कृति का उन्नत मान हासिल करने के रास्ते ही आखिरकार एक दिन विश्व साम्यवादी समाज व्यवस्था कायम होगी और सिर्फ यही इतिहास द्वारा तयशुदा रास्ता है, इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता है–इस वक्तव्य को चुनौती का सामना करना पड़ जायेगा। लगेगा कि यह काफी कुछ यांत्रिक और पूर्वनिर्धारित जैसी थोपी हुई बात हो गयी है। इसलिए, जो बुद्धिजीवी कारणों की बहुलता की वकालत कर रहे हैं, वे सिर्फ यही नहीं कि अनजाने में ही इस अवधारणा की आड़ में विज्ञान-विरोधी बात कर रहे हैं, बल्कि साम्यवादी विचारधारा का जो मूल आधार है, वे उसी पर चोट करना चाहते हैं।

सिर्फ तर्कशास्त्रियों ने ही नहीं, बल्कि वैज्ञानिकों ने भी अब विज्ञान जगत के हरेक क्षेत्र में इस कार्य-कारण संबंध (cause-effect relation) या कार्य-कारण नियम (law of causality) को मान लिया है। अवश्य ही, इस विषय को केन्द्र करके व्याप्त एक भ्रम के बारे में मैंने गौर किया है। कुछ वैज्ञानिक ऐसा भी सोचते हैं कि निश्चिततावाद या निश्चितता का नियम (determinism or determinist law) जो कार्य-कारण नियम की ही भिन्न अभिव्यक्ति है, इसे अगर मान लें, तो साथ-साथ ही संभाव्यता (probability) को नहीं माना जा सकता। ठीक इसी तरह वे सभी वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर संभाव्यता को मान लें, तो निश्चितता को नहीं माना जा सकता। इस प्रकार, इस विषय को केन्द्र करके सिर्फ सामान्य स्तर के वैज्ञानिकों में ही नहीं, बल्कि डी. ब्रोग्ली जैसे मशहूर वैज्ञानिकों में भी ऐसे बहुत सारे भ्रम रह गये हैं। असल में बात क्या है?

परस्पर-विरोधी नहीं हैं सम्भाव्यता और निश्चिततावाद की अवधारणाएं

सबसे पहले, यह बात सबको मालूम होनी चाहिए कि सम्भाव्यता

भी वैज्ञानिक आधार पर ही खड़ी है–अर्थात यह भी वैज्ञानिक है। इसलिए विज्ञान में सम्भाव्यता (probability) को नकारने का कोई सवाल ही नहीं उठता है। फिर दूसरी तरफ निश्चिततावाद (determinism) या निश्चयात्मक नियम (determinist law), इसे चाहे जो भी हम कहें–यह भी विज्ञान का अच्छी तरह जांचा-परखा सत्य है। इसलिए इन दोनों के बीच दरअसल कोई विरोध या द्वन्द्व नहीं रह सकता है। तब, इसके बारे में सटीक और वैज्ञानिक अवधारणा क्या होगी? इस क्लास में विज्ञान के कई छात्र हैं। मैं जानता हूं यह माना जा सकता है कि विज्ञान के इन सब विषयों से वे अच्छी तरह वाकिफ हैं। यहां तक कि इन सारे विषयों में जो तकनीकी या गणितीय (mathematical) पहलू हैं, वे सब भी उन्हें मालूम हैं। लेकिन यहां सबको समझने में सहूलियत के लिए, इस विषय को मैंने जिस तरह समझा है, उसके सार या निचोड़ (essence) को मैं आप सबके सामने रखने के लिए थोड़ी चर्चा करना चाहता हूं। मैं एक बहुत ही मामूली या आसान-सी मिसाल के सहारे इस विषय को समझाने का प्रयास करूंगा।

वस्तु में, यहां तक कि उसका जो अत्यंत सूक्ष्म कण है, उसमें, अर्थात उस किस्म के क्षेत्र (field) में भी हर पल तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे हैं। अब, एक विशेष समय में उसकी जो स्थिति है, उसे हम A नाम दे रहे हैं लेकिन विभिन्न घटनाओं और अन्तर्क्रियाओं पर निर्भर होने के चलते यह A नामक पदार्थ बदलते-बदलते B हो सकता है, C या D हो सकता है या अन्य किसी पदार्थ में रूपान्तरित हो सकता है। यहां समस्या यह है कि वह आखिर किस में रूपान्तरित हो जायेगा, यह पहले से कहा नहीं जा सकता, कम से कम यह परिवर्तन सम्पूर्ण होने से पहले तक बताना संभव नहीं है। ऐसा इसलिए बताना संभव नहीं है, क्योंकि न केवल बहुत सारे कारक (factor) या घटनाएं एक साथ इस परिवर्तन को प्रभावित कर रहे हैं, बल्कि इस परिवर्तन की प्रकृति भी बहुत ही सूक्ष्म है और यह सूक्ष्म परिवर्तन भी हर पल हो रहा है। इन सब मामलों में 'पल' के बारे में अवधारणा भी बड़ी अद्‌भुत है। विज्ञान के छात्रों को मालूम है कि एक सेकेण्ड को हजारों हिस्सों में बांटा जा सकता है और इसे विज्ञान के प्रयोग-परीक्षणों में इस तरह बांटा भी जाता है। इसलिए हमारे रोजमर्रे के जीवन में आम

तौर पर 'पल' के बारे में जो अवधारणा है–उन सभी क्षेत्रों में पल की अवधारणा वैसी नहीं है।

इसलिए परिवर्तन के मामले में चूंकि एक साथ कई कारक (factor) काम करते हैं और इलेक्ट्रॉन व अन्य सूक्ष्म कण (micro particle) अत्यंत गतिशील हैं, इसके अलावा 'पल' के बारे में अवधारणा भी जहां अत्यंत सूक्ष्म है, वहां इन सभी कारकों (factors) को गणना में लेकर, अर्थात हिसाब-किताब में लेकर ही सम्भाव्यता के समीकरण (probability equation) के सहारे परिवर्तन की निशानदेही की जाती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि यह निश्चिततावाद (determinism) का विरोध करना हो जाता है। मामला हूबहू ऐसा नहीं है। क्योंकि मान लीजिए, जिसे हमने A कहा था, वह A नामक पदार्थ परिवर्तन के फलस्वरूप B या C या D या अन्य जो कुछ भी क्यों न हो जाये–इसमें एक बात हमें समझ लेनी चाहिए कि आखिरकार जब यह परिवर्तन हो रहा है, उस परिवर्तन के मामले में लेकिन अनिश्चितता काम नहीं कर रही है, बल्कि निश्चितता (determinism) के रास्ते चलकर ही यह परिवर्तन हो रहा है। अर्थात A नामक पदार्थ A से किसी समय में B, C, D या क्या होगा, वह पहले से बता पाना हालांकि मुमकिन नहीं है, फिर भी जब यह परिवर्तन हो रहा है अर्थात परिवर्तन के रास्ते चलते हुए A या तो B हो रहा है, नहीं तो C हो रहा है या इसी तरह का कुछ और हो रहा है, वह प्रक्रिया बेनियम नहीं, बल्कि नियम मान कर ही हो रही है। इसी वजह से मैं कह रहा हूं कि वह परिवर्तन निश्चितता को मान कर ही हो रहा है, उसका विरोध करके नहीं। इस सम्भाव्यता (probability) के सिद्धांत के साथ निश्चिततावाद (determinism) का कोई विरोध हो–ऐसा मुझे नहीं लगता है। इसलिए मैं कहता हूं कि सम्भाव्यता (probability) जैसे विज्ञान है और इसी वजह से इसे नकारा नहीं जा सकता, वैसे ही निश्चिततावाद, कार्य-कारण संबंध कहें या कार्य-कारण नियम, हम चाहे जिन भी शब्दों में इसे कहें, यह भी विज्ञान का एक बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत है और अगर विज्ञान को मानते हैं, तो इससे कन्नी काटने की कोई गुंजाइश नहीं है। अवश्य ही कोई नासमझी के चलते निश्चितता को पूर्व-निश्चितता (pre-determinism) के साथ अर्थात

पूर्वनिर्धारणता या नसीब के साथ, नियति के साथ गड्डमड्ड कर देता है तो वह बिल्कुल अलग बात है। क्योंकि अगर कोई विज्ञान को मानकर चलता है और अपने आपको विज्ञान के सहारे सत्य खोजने में लगाता है, तो नसीब, नियति के लिए उसमें कोई जगह नहीं है।

हर पहलू पर वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करने का महत्व

इस क्लास में एक सवाल आया है कि जिन सब बातों को यहां के कॉमरेड अच्छे से समझ पा रहे हैं, उन्हीं बातों को जो बुद्धिजीवी-बड़े वैज्ञानिक या दार्शनिक हैं वे क्यों नहीं समझ पाते? सवाल आया है, इसलिए मैं सरसरी तौर पर इस पर दो चार बातें कह देता हूं। आप मार्क्सवाद और विज्ञान पर चर्चा के दौरान विचार पद्धति की बात सुन चुके हैं। यह विचार पद्धति का विषय बहुत ही महत्वपूर्ण है। कोई आदमी चाहे वह कितना ही बड़ा वैज्ञानिक या दार्शनिक क्यों न हो, लेकिन समस्या का विचार-विश्लेषण करने के मामले में वह जिस विचार पद्धति का इस्तेमाल करते हुए समस्या पर विचार करता है, वह अगर कहीं गलत है, तो उसका निष्कर्ष अवश्यम्भावी रूप से गलत होना लाजिमी है। जब तक हम हर चीज को उसके परिवेश के साथ और विभिन्न घटनाओं के साथ घात-प्रतिघात से मिलाकर विचार नहीं करते हैं, जिसे द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति कहते हैं, तो एक ही तथ्य या सामग्री से शुरू करके भी हम भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुंचेंगे। इसलिए चिंतन प्रक्रिया, अध्ययन पद्धति, मजदूर वर्ग की पार्टी की गठन प्रक्रिया व किसी विषय पर विचार-विश्लेषण करने की पद्धति पर हमारी पार्टी इतना जोर देती है।

इस विचार-विश्लेषण पद्धति के बारे में जरा और ज्यादा गहराई से सोचने की जरूरत है। चिंतन पद्धति का एक पहलू है जिसे मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—एक है औपचारिक चिंतन प्रक्रिया (formal process of thinking) और दूसरी है द्वन्द्वात्मक चिंतन प्रक्रिया (dialectical process of thinking)। इसमें कोई शक नहीं कि यह जो चिंतन प्रक्रिया को दो श्रेणियों में बांटा गया है यह बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन की चिंतन प्रक्रिया का भाववादी और अन्य भौतिकवादी दर्शनों से जो फर्क है, वह इसी पर

निर्भर करता है। लेकिन इसके बावजूद रोजाना और हर पल जो क्रियाकलाप होते हैं, उन क्रियाकलापों में विचार पद्धति का यह सवाल भी बहुत जरूरी है। जैसे उदाहरण के लिए मान लीजिए, हम जो मार्क्सवाद में विश्वास रखते हैं या जो हमारी पार्टी एसयूसीआई को मान कर चलते हैं, उन सब की चिंतन की धारा या पद्धति में आम तौर पर एक मेल या सादृश्य रहना स्वाभाविक है। यह बेशक बहुत ही महत्वपूर्ण है, लेकिन इतने से ही काम नहीं चलेगा। जिस बात पर ध्यान देना इससे भी ज्यादा जरूरी है वह है हमारे चिंतन, विचार-विश्लेषण, अध्ययन, चर्चा, हमारी रोजमर्रे की जिंदगी का संघर्ष–दरअसल इन सभी को हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से द्वन्द्वात्मक पद्धति से संचालित कर पा रहे हैं या नहीं। इन सब बातों पर हमें हमेशा बारीकी से और विस्तार से जांच-परख व विचार-विश्लेषण करना जरूरी है। क्योंकि विश्लेषण करने की प्रक्रिया में मोटे तौर पर एकरूपता रहने पर भी, विभिन्न घटनाक्रमों के परिप्रेक्ष्य में तफसील के मामलों में हमारा चिंतन और विचार-विश्लेषण करने का तरीका सही है या नहीं–इस मामले में लगातार सतर्कता नहीं बरती जाये, तो आखिरकार निष्कर्ष पर पहुंचने, फैसला लेने या सही समझ विकसित करने के क्षेत्र में बहुत सारा फर्क पैदा हो सकता है। इसलिए वैज्ञानिक चिंतन धारा या दिमाग का वैज्ञानिक रुझान (scientific bent of mind) अर्थात जिंदगी के हर पहलू पर विज्ञान और वैज्ञानिक तर्क अपनाकर चलना, उसको सही तरीके से अमल में लाना और फिर सही तरीके से अमल में लाया गया है कि नहीं, इसकी भी अच्छी तरह से पुष्टि कर लेना–ये सभी बातें अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जबकि तजुर्बे से हमने देखा है कि बहुत सारे वैज्ञानिक व दार्शनिक चिंतन प्रक्रिया या चिंतन प्रणाली (system of thought) को लेकर ज्यादा माथापच्ची नहीं करते हैं। यह बात हम निश्चित ही जानते हैं कि एक वैज्ञानिक अगर विज्ञान के शोधकार्य में सफल होना चाहता है, तो अपने अंदर के एक वैज्ञानिक मन और विज्ञान की नैतिकता (ethics of science) से उसे संचालित होना ही होगा। अत: जब वे प्रयोगशाला में खोज कार्य करते हैं, तब वे भाववादी हैं, तो भी उनका भाववादी चिंतन प्रयोगशाला में उसके शोधकार्य को प्रभावित नहीं कर सकता। लेकिन प्रयोगशाला से बाहर आकर जब वे

विभिन्न विषयों पर चर्चा करते हैं, यहां तक कि अपने वैज्ञानिक आविष्कारों या प्रयोगों की व्याख्या करने लगते हैं, तब वह व्याख्या कई मामलों में ही उनके दार्शनिक चिंतन से–इस क्षेत्र में भाववादी चिंतन से अक्सर प्रभावित हो जाती है। इस तरह के वैज्ञानिकों या दार्शनिकों के मामले में दिक्कत यही है। इसलिए इन सब पहलुओं का हमें ख़याल रखना चाहिए।

आकस्मिक घटना या आकस्मिक संयोग

इससे पहले हम चर्चा कर चुके हैं कि पूर्वनिर्धारणवाद (pre-determinism) यानी नियति या नसीब कुछ नहीं होता है। इस चर्चा के आधार पर इस क्लास में एक सवाल आया है। सवाल यह है कि अगर नसीब नाम की कुछ चीज नहीं होती है, तो दुर्घटनाएं क्यों होती हैं और दुर्घटनाओं में लोग मरते क्यों हैं? बहुत लोगों को लगता है कि क्या यह पूर्वनिर्धारित नहीं होता है? अपने अनुभव से मैंने देखा है कि लोगों के मन में इस तरह का सवाल अक्सर मंडराता रहता है। इसलिए इस विषय पर थोड़ी चर्चा होनी ही चाहिए। हम पहले ही देख चुके हैं कि दुनिया के सारे परिवर्तन नियमबद्ध होते हैं अर्थात प्रत्येक घटना नियम द्वारा नियंत्रित होती है। दुनिया में ऐसी कोई घटना नहीं घट सकती जो कि नियमों के दायरे से परे हो। इसलिए जब कोई दुर्घटना होती है तब यह मान लेना ठीक नहीं है कि वह घटना पूर्वनिर्धारित थी या नियम द्वारा नियंत्रित नहीं थी। मामला ऐसा बिल्कुल नहीं है। अगर हम वैज्ञानिक ढंग से जांच-परख करें तो इस मामले को हमें आकस्मिक संयोग (accidental coincidence) के तौर पर ही समझना होगा। एक मिसाल देने से यह बात कुछ हद तक साफ हो सकती है। मान लीजिए, कोई आदमी अपने रिश्तेदार की बीमारी को लेकर बहुत ही परेशान और चिंतित हालत में दौड़ता हुआ डॉक्टर के पास या दवा खरीदने के लिए जा रहा है। मान लीजिए, ठीक उसी वक्त डकैतों का गिरोह डकैती करके लूट का माल लेकर गाड़ी पर सवार विपरीत दिशा से बहुत ही तेज रफ्तार से उधर आ रहा है। अब जो आदमी दवा खरीदने के लिए जा रहा है, उसके दौड़कर जाने या लापरवाह होने की जहां वजह है, वहीं फिर जो लोग लूट का माल लेकर भाग रहे हैं, उन

लोगों की भी तेज रफ्तार से भागने की वजह है। साफ जाहिर है कि ये दोनों मामले अलग-अलग हैं और इन दोनों मामलों में तेज रफ्तार से जाने के कारण भी अलग-अलग हैं–इनका आपस के कार्य-कारण में कोई संबंध नहीं है। लेकिन अचानक इन दोनों का एक स्थान पर एक मुहुर्त में संयोग हो गया। एक विशेष स्थान पर एक मुहुर्त में इन दोनों के बीच टक्कर हो गयी। अर्थात वे एक दूसरे के साथ इत्तफाक से एक जगह मिल गये। अर्थात संयोगवश दोनों वाकये एक साथ हो गये (by chance accidently coincide)। फलस्वरूप उस आदमी की मौत हो गयी। क्या इस घटना में पूर्वनिर्धारणता (pre-determinism) जैसी कोई बात है? नसीब या किस्मत का सवाल भी इसमें कहां आता है? अगर इन दोनों में से किसी की रफ्तार में पल भर के लिए फेर-बदल हो जाती, तो टक्कर नहीं होती और उस आदमी की मौत भी नहीं होती। अब, कोई ऐसा भी सोच सकता है कि यह जो रफ्तार में फेर-बदल नहीं हुई–यही तो पूर्व-निर्धारित था और किस्मत में ही ऐसा होना लिखा था, वरना रफ्तार में फेर-बदल क्यों नहीं हुई? दरअसल, इस तरह की सोच का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। ये प्रचलित अंधविश्वास, समाज से मिली विभिन्न प्रकार की जो अवैज्ञानिक धारणाएं हमारे मन में रची-बसी रहती हैं, वे न केवल हमारी चिंतन प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं, बल्कि मन में कई अंधविश्वासों को भी जन्म देती हैं। इस विषय पर मुझे लगता है अभी इतनी ही चर्चा काफी है। अब दूसरे प्रसंग पर आया जाये।

अनिश्चितता सिद्धांत (uncertainity principle)

आपमें से कई लोग जानते हैं कि विज्ञान के कुछ विषयों को केन्द्रित करके, समय-समय पर समाज के कई हलकों की ओर से दर्शनगत मामलों में बहुत सारी भ्रम-भ्रान्तियां एवं गलतफहमियां पैदा करने की कोशिशें हुई हैं। इन सब विषयों के बारे में साफ धारणा का अभाव बहुत सारे क्षेत्रों में परिलक्षित हो रहा है। इस प्रसंग में सबसे पहले हाइजेनबर्ग के अनिश्चियता सिद्धांत (uncertainity principle) के बारे में सवाल आ जाता है। इस अनिश्चितता सिद्धांत (uncertainity principle) की मूल बात क्या है? विज्ञान के छात्र जानते हैं कि

गतिमान इलेक्ट्रॉनों या सूक्ष्म कणों (micro particles) का अवस्थान (position) और संवेग (momentum) जो कि द्रव्यमान × वेग (mass × velocity) होता है, इन दोनों को एक साथ सही-सही और परिशुद्ध रूप में जाना नहीं जा सकता है। इन दोनों में से किसी एक को जितना ही सटीक रूप से जानने की कोशिश की जायेगी, दूसरे के बारे में सटीक रूप से जानना उतना ही ज्यादा असंभव हो जायेगा।

अब, इन सब सवालों को केन्द्र करके हाइजेनबर्ग के इस अनिश्चितता के सिद्धांत (uncertainity principle) को लेकर एक समय लोगों में, खासकर वैज्ञानिकों और दार्शनिकों में बड़ी खलबली मची थी। इस विषय की अगर गहराई से छानबीन की जाये तो देखा जायेगा कि इस बारे में कोई भ्रम-भ्रान्ति रहने की बात नहीं है। बात ऐसी नहीं है कि गतिमान इलेक्ट्रॉन के अवस्थान (position) या संवेग (momentum) दोनों में से किसी को भी किसी भी हालत में हम जान ही नहीं सकते या सही-सही (accurately) नहीं जान सकते हैं। दरअसल बात यह है कि अवस्थान और संवेग दोनों को किसी भी तरह एक ही समय निश्चित रूप से या सही-सही नहीं जाना जा सकता है। इसके आधार पर कुछ लोग यह दलील देने लगे थे या इस निष्कर्ष पर पहुंच गये कि कुछ कारक अनिश्चित प्रकृति के होते हैं (some factors are indeterminate)। इस प्रकार इसने हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धांत को केन्द्रित करके एक अनिश्चयता और भ्रम-भ्रान्ति पैदा कर दी थी। इसके बारे में हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि हम जिस फील्ड के बारे में चर्चा कर रहे हैं वह बहुत ही संवेदनशील (sensitive) है। क्योंकि यहां वस्तु के अत्यंत सूक्ष्म कणों को लेकर कार्य हो रहा है, इसलिए जिन परिस्थितियों में, यहां तक कि जिन यंत्रों के सहारे यह सारा परीक्षण-निरीक्षण किया जाता है, उस परिस्थिति में, जरा-सा भी परिवर्तन हो जाने से इस क्षेत्र में परिणामों में तुलनात्मक तौर पर बड़ा भारी अंतर आ जाता है, यहां तक कि वह जानने के विषय (object) पर भी प्रभाव डाल सकता है। इसलिए इस तरह के अति संवेदनशील क्षेत्र में ऐसी घटना घट जाना बहुत ही स्वाभाविक है। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि किसी के बारे में कुछ भी जानकारी हासिल नहीं की जा सकती है—बात ऐसी नहीं है। बात यह

है कि अवस्थान एवं संवेग इन दोनों को एक साथ परिशुद्धता सहित सही-सही जाना नहीं जा सकता है। बात इससे ज्यादा और कुछ नहीं है। इसलिए, इसको लेकर किसी तरह का रहस्यवाद पैदा करने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं है। जो लोग ऐसी बात कर रहे हैं, क्या यह बात उन्हें पता नहीं है कि हाइजेनबर्ग के इस सिद्धांत को एक गणितीय समीकरण के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसलिए यह बात समझनी चाहिए कि कोई भी नियम अगर काम नहीं करता, तो उस सिद्धांत को गणितीय समीकरण के सहारे व्यक्त करना कैसे संभव होता? फलस्वरूप, यहां अनिश्चित कारक (indeterminate factor) के अर्थ में अनिश्चयता की कोई बात ही नहीं है।* इस विषय को सिर्फ इस तरह देखना होगा कि विज्ञान की जितनी ही प्रगति होगी, खासकर इन सब सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म वस्तु-कणों के अध्ययन के लिए जितने ही उपयुक्त परिशुद्धता मापने

---

* स्थूलकाय पिण्डों की गति की प्रकृति से यह निष्कर्ष निकलता है कि गति-पथ पर वस्तुपिण्डों का अवस्थान (position) और संवेग (momentum) दोनों आपस में एक दूसरे से स्वतंत्र निश्चयात्मक कारक या गुणधर्म होते हैं और यही वजह है कि एक दूसरे के साथ इन दोनों को निश्चयता सहित या सुनिर्दिष्ट रूप से मापा जा सकता है। माप-तौल की सीमाबद्धता के कारण माप-तौल की जितनी गलती होती है या फर्क आता है, मापन यंत्रों और पद्धति की उन्नति करके उसमें इच्छानुसार कमी लायी जा सकती है। लेकिन सूक्ष्म कणों, जैसे कि इलेक्ट्रॉनों की गति-प्रकृति को जांच-परख में लें, तो इस मामले में वस्तु के अवस्थान और संवेग एक दूसरे के परिपूरक गुणधर्म के तौर पर उभरकर आते हैं—इसी वजह से इनके अवस्थान और संवेग की माप-तौल एक साथ निश्चत रूप से नहीं की जा सकती। एक ही प्रयोग-परीक्षण में एक ही साथ माप-तौल करने से, माप-तौल की गलती की मात्रा का हेर-फेर ऐसा होगा कि किसी उपाय से उसे एक न्यूनतम स्तर से कम करना संभव नहीं है—यही हाईजेनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धांत में व्यक्त है। यंत्रों की उन्नति पर यह मामला निर्भर नहीं करता। सूक्ष्म कणों की अपनी विशिष्ट गति-प्रकृति को अवस्थान और संवेग की स्थूलकाय पिण्डों (macro bodies) पर आधारित परस्पर निरपेक्ष गुणधर्म के बारे में जो धारणा है, उसी के आधार पर समझने से ही माप-तौल की यह अनिश्चयता आ रही है—यहां दार्शनिकों में कोई भ्रम-भ्रान्ति नहीं है, यहां कोई रहस्यवाद काम नहीं करता है। मामला ऐसा नहीं है कि यहां कार्य-कारण संबंध काम नहीं कर रहा। किस विशेष चरित्र के कारण यहां क्रियाशील है, यह विज्ञान की प्रगति के रास्ते से ही जाना जायेगा। फलस्वरूप कार्य-कारण संबंधी धारणा का विकास होगा।

वाले सूक्ष्म यंत्र खोज लिये जायेंगे, उतनी ही इन सब विषयों के बारे में इंसान और भी उन्नत और समृद्ध धारणा हासिल करता जायेगा, इसमें कोई शक नहीं है।

अब हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धांत और इलेक्ट्रोनों की गतिविधि संबंधी इस चर्चा के बाद स्थूलकाय पिंडों (macro body) के बारे में एक पहलू पर और चर्चा की जाये। यह देखा गया है कि अति संवेदनशील और परिशुद्धता मापन यंत्र (precision instrument) से जब किसी स्थूलकाय पिंड (macro body) की बहुत ही सूक्ष्म मात्रा को दो बार मापा-तौला जाता है, तो हूबहू वही सही नतीजा नहीं निकलता है। ऐसा क्यों होता है? इसकी वजह यह है कि जिस वस्तु का माप-तौल किया जा रहा है और जिससे माप-तौल किया जा रहा है, बहुत ही सूक्ष्म (infinitesimally minute) होते हुए भी, इन दोनों में ही परिवर्तन हो रहे हैं। ये परिवर्तन हर वस्तु में, हर जगह, हर पल हो रहे हैं। इसके फलस्वरूप एक ही वस्तु का दो बार माप-तौल किया जाये, तो सूक्ष्म जांच-परख से एक नतीजा नहीं मिलता है। साधारण काम-काज में, जब हम विभिन्न वस्तुओं का माप-तौल करते हैं, तो इन सब से कोई समस्या पैदा नहीं होती। समस्या सूक्ष्म जांच-परख के मामले में पैदा होती है।*

वस्तु गतिशील और द्वन्द्वात्मक है न कि अपरिवर्तनीय या शाश्वत

वस्तु संबंधी विचार के कुछ-कुछ विषयों के बारे में जितनी दूर तक चर्चा हुई है, उस सब को ध्यान में रखते हुए अब अगर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के निष्कर्षों पर विचार किया जाये, तो हमें यह समझने में

---

* अत्यंत सूक्ष्म परिमाण वाली वस्तु के माप-तौल (जैसे, द्रव्यमान या भार के माप-तौल) के लिए इस्तेमाल होने वाले सूक्ष्म मापन यंत्रों की बनावट के सिद्धांत (principle of construction) की वजह से ही हर बार के माप-तौल के यंत्रों की अन्दरूनी परिस्थिति (measuring condition) में सूक्ष्म परिवर्तन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप कोई भी दो माप-तौल सूक्ष्म जांच-परख से एक जैसे नहीं होते हैं। क्षेत्र विशेष में वस्तु का अपना परिवर्तन भी हो जाता है, उस मामले में भी माप-तौल का सूक्ष्म फर्क पकड़ में आ जाता है।

कोई दिक्कत नहीं होगी कि विज्ञान के आविष्कारों ने किस तरह से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को नित्य नये ढंग से 'कन्फर्म' अर्थात पुख्ता और समृद्ध किया है, इसके सही होने की पुष्टि की है। हम जानते हैं कि आधुनिक विज्ञान कह रहा है कि वस्तु जड़ वस्तु तो है ही नहीं, बल्कि गतिशील (dynamic) वस्तु है। फिर वस्तु न केवल गतिशील है, बल्कि वस्तु द्वन्द्वात्मक वस्तु भी है। चूंकि वस्तु द्वन्द्वात्मक वस्तु है, इसीलिए यह गतिशील (dynamic) है। अतः वस्तु की गतिशीलता की वजह क्या है–यह अब कोई अज्ञात नहीं है। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि आज गति को वस्तु के बाहर का गुणधर्म नहीं माना जाता है, बल्कि वस्तु के अन्दरूनी द्वन्द्व-संघर्ष ने ही वस्तु को गतिशील किया हुआ है। खैर, जो भी हो, अब सवाल आया है कि हमारा दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन क्यों है? अर्थात द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहने का सही तात्पर्य क्या है? पहला, हम अपने तमाम तजुर्बों से यह अवधारणा हासिल कर चुके हैं और इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वस्तु से परे किसी भी सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। यहां तक कि मनुष्य का जो मन है, वह भी वस्तु की ही क्रिया का फल है। इस मामले में अत्यंत संक्षेप में मूल विषय पर मेरे द्वारा चर्चा किये जाने पर भी इस मामले में पावलोव के वक्तव्य के साथ या आधुनिक विज्ञान के मस्तिष्क क्रिया विज्ञान (brain physiology) संबंधी निष्कर्षों के साथ जोड़ते हुए मैंने इस क्लास में चर्चा नहीं की। अन्यत्र यह चर्चा मैंने की है। यहां इस बारे में समय के अभाव के कारण विस्तृत चर्चा में नहीं जा पाऊंगा। अब, यहां मैं जो कहना चाहता हूं, वह है विज्ञान से हमें यही मिला है कि वस्तु से ही वस्तु बन रही है–उसका सृजन नहीं किया जा सकता, उसका ध्वंस करने का भी कोई सवाल ही नहीं उठता। उसका क्षय नहीं है, विलोप नहीं है, हालांकि विशेष वस्तु पैदा हो रही है, विलुप्त हो रही है। आज जिस वस्तु के बारे में हमें जानकारी नहीं, भविष्य में उसे जान पायेंगे, जान सकते हैं। असल में वस्तु को जानना-समझना ही विज्ञान साधना या ज्ञान साधना का बहुत बड़ा काम है। हम यह बात भी जान सकते हैं कि out of nothing अर्थात बिना किसी वस्तु के किसी भी वस्तु का सृजन नहीं किया जा सकता है। लेकिन ऐसे कहने से वस्तु को परम या शाश्वत (absolute

or eternal) नहीं कहा जा सकता। वस्तु को absolute, अपरिवर्तनीय या शाश्वत कहना गलत है। क्योंकि, वस्तु खुद ही सतत परिवर्तनशील है। इसलिए वस्तु के बारे में हमारी जो धारणा है, उसे विश्वजनीन या यूनिवर्सल कहना ही तर्कसंगत है। इस मामले में लेनिन ने एक सुन्दर बात कही है, अर्थात सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने कहा है, matter is a philosophical category, वस्तु एक मौलिक दार्शनिक धारणा है। अर्थात वस्तु संबंधी हमारी धारणा ऐसी है कि वस्तु-निरपेक्ष या वस्तु से परे कुछ भी अस्तित्व में नहीं, सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि हम अतीत या भविष्य जिधर भी निगाह क्यों न डालें, वहां वस्तु के सिवा और कुछ नहीं है। अर्थात वस्तु से परे कुछ मिलने की कोई गुंजाइश नहीं है। यहां तक कि मनुष्य का जो चिंतन-विचार है, वह भी वस्तु की क्रिया का ही फल है, वस्तु की ही उपज (product of matter) है। हम जानते हैं कि दुनिया में जो कुछ घटित हो रहा है और घटित होगा उसकी व्याख्या करता है दर्शन। इसके अलावा इस दर्शन का मूल आधार है वस्तुगत। इसी को कभी-कभी दूसरे शब्दों में यूं कहा जाता है–essence of thing is matter. अतः चूंकि सभी कुछ वस्तुमय है, वस्तु-निरपेक्ष किसी भी सत्ता का अस्तित्व दुनिया में नहीं है, इसी वजह से हमारा दर्शन है भौतिकवाद। यह है एक पहलू।

हमारा भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्यों

इसके बाद यह सवाल आना स्वाभाविक है कि हमारा दर्शन, जिसे हम भौतिकवाद कहते हैं, उसे द्वन्द्वात्मक क्यों कहा जाता है? पहले ही हम चर्चा कर चुके हैं कि आधुनिक विज्ञान तथा आधुनिक भौतिकी (modern physics) के बहुत सारे शोधकार्यों और प्रयोग-परीक्षणों से हम यह जान चुके हैं कि वस्तु गतिशील वस्तु है। वस्तु द्वन्द्व-समन्वय के जरिये ही परिवर्तित होती है और यह वस्तु सर्वव्यापक, विश्वजनीन (universal) है। इसके अलावा, वस्तु का चरित्र जहां द्वन्द्वात्मक है, लगातार द्वन्द्व-संघर्ष के जरिये परिवर्तित हो रहा है, इसलिए वस्तु का द्वन्द्व भी विश्वजनीन है। फिर चूंकि वस्तु के इस द्वन्द्वात्मक चरित्र का प्रतिफलन चिंतन, आदर्श, विचारधारा, दर्शन में हो रहा है–इसलिए हमारे दर्शन को भी द्वन्द्वात्मक कहा जाता है। इसी वजह से हमारा दर्शन

सिर्फ भौतिकवाद ही नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इसलिए हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार पद्धति के सहारे ही सच्चाई के बारे में अवश्य ही तभी जान सकते हैं, जब इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार पद्धति को गहराई से समझने और अमल में लाने की कोशिश में हम कोई गलती न करें या किसी भटकाव का शिकार न हों।

वस्तु के बारे में दो-चार और पहलुओं पर चर्चा करना मैं जरूरी समझता हूं। एक है—समग्र अर्थ में वस्तु के बारे में अवधारणा—जिस मामले में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि यह वस्तु विश्वजनीन है, लेकिन अपरिवर्तनीय (absolute) नहीं है। लेकिन जब हम अलग करके किसी एक वस्तु का अध्ययन या विचार करते हैं, तो वस्तु को एक विशेष वस्तु के रूप में ही समझना होगा। उदाहरण के लिए, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन या यह कुर्सी, मेज, गिलास या अन्य जिस भी चीज के बारे में कहें—यह वस्तु एक विशेष वस्तु होती है, इसका विशेष अवस्थान (position) होता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है कि किसी एक विशेष वस्तु से ही दुनिया में सब कुछ बना है। हरेक वस्तु को इसके विशेष अवस्थान और दूसरी-दूसरी वस्तुओं के साथ इसके द्वन्द्व-समन्वय में ही जानना और समझना होगा। यही वजह है कि वस्तु संबंधी अवधारणा निर्विशेष (absolute) नहीं हो सकती है।

अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व

यह बात आज साबित हो चुकी है कि सभी वस्तुएं एक दूसरी के साथ अंतर-संबंधित हैं—एकता और संघर्ष, द्वन्द्व-समन्वय के द्वारा ही वे अंतर-संबंधित हैं। मैं पहले ही कह चुका हूं कि द्वन्द्व दो किस्म के होते हैं—अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व। किसी भी वस्तु के अपने अंदर जो द्वन्द्व है, वही होता है अन्दरूनी द्वन्द्व और किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ जो द्वन्द्व है, वह बाहरी द्वन्द्व कहलाता है। अब, अन्दरूनी द्वन्द्व और बाहरी द्वन्द्व के बीच आपसी संबंध की प्रकृति क्या है, यह भी समझने की जरूरत है। पहले, हमें यह समझना होगा कि ये दोनों एक-दूसरे की मदद करते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए उनमें जो संबंध है, उसे हम परिपूरक-संपूरक (supplimentary-complementary) कहते हैं। लेकिन याद रखें कि

इन दोनों किस्म के द्वन्द्वों में से अन्दरूनी द्वन्द्व ही परिवर्तन का मूल आधार होता है। बाहरी द्वन्द्व निसंदेह अन्दरूनी द्वन्द्व को प्रभावित करता है और किसी-किसी मामले में सचमुच यह बाहरी द्वन्द्व बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। लेकिन इसके बावजूद हमें समझना होगा कि जब कोई परिवर्तन होता है, तो वह परिवर्तन तब तक हो ही नहीं सकता है जब तक कि अन्दरूनी द्वन्द्व (internal contradiction) परिपक्व (mature) नहीं हो जाता। इसलिए इस बात को इस तरह से समझना होगा कि जब भी कोई परिवर्तन होता है, तो उसमें बाहरी द्वन्द्व चाहे कितना ही प्रभाव डालता हो और चाहे कितनी ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता हो फिर भी अन्दरूनी द्वन्द्व ही परिवर्तन का मूल कारण होता है (basis of change is internal contradiction), परिवर्तन के उपयोगी या अनुकूल परिस्थिति पैदा हुए बिना परिवर्तन होना सम्भव ही नहीं है।

एक मिसाल देने से इस मामले को समझने में सहूलियत होगी। यह एक आम मिसाल है। जैसे कार्बाइड गैस को ले लीजिए। हम जानते हैं कि अगर माचिस की तीली जलाकर कार्बाइड गैस के नजदीक लायी जाये, तो गैस जल उठती है। यह देखकर कई लोग सोच सकते हैं कि माचिस की जलती हुई तीली ही गैस के जलने का मूल कारण है, क्योंकि केवल बाहर से आग लगायी जाने के कारण ही गैस जलती है। यह बात सही है कि गैस आग के सम्पर्क में आये बिना जल नहीं सकती थी। लेकिन इस माचिस की तीली की आग को अगर चूना, बालू, सुर्खी या ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जिनके पास ले जाने से क्या उनमें आग लग सकती थी? इस बात को हर कोई समझता है कि ऐसी हालत में आग लगने का सवाल ही नहीं उठता। माचिस की जलती हुई तीली के सम्पर्क में आने से ये चीजें जलती नहीं हैं। इस वजह से नहीं जलती हैं कि इन सब चीजों के गुणधर्म ऐसे नहीं हैं कि माचिस की तीली की आग के सम्पर्क में आने से ये जल उठें। अर्थात इन सब चीजों की अन्दरूनी स्थिति या द्वन्द्व जो भी कहें, वह ऐसी स्थिति में नहीं पहुंचा है कि जलती हुई तीली से इसे जलाया जा सके। लेकिन कार्बाइड गैस जल गयी, क्योंकि इसकी अन्दरूनी स्थिति को जलने की दशा में पहुंचाने के लिए माचिस की तीली की आग के सम्पर्क ने मदद की।

अब सामाजिक विज्ञान के पहलू से इस विषय पर चर्चा करके देखा जाये। अर्थात इस सिद्धांत को अच्छी तरह समझना है, तो दार्शनिक पहलू से यह समझने में हमें सहूलियत होगी कि इसी वजह से क्रांति का किसी भी देश में आयात या निर्यात नहीं किया जा सकता। बाहरी ताकतें निसंदेह क्रांति को मदद पहुंचा सकती हैं और कभी-कभी बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं, लेकिन जब तक किसी देश के अन्दरूनी हालात तैयार नहीं हो जाते और जब तक उस देश के ज्यादातर लोग सही क्रांतिकारी नेतृत्व के तहत संगठित नहीं हो जाते, तब तक किसी भी बाहरी ताकत की मदद से किसी देश में क्रांति नहीं हो सकती। यही वजह है कि मार्क्सवादी लोग यह कहते हैं और विश्वास भी करते हैं कि क्रांति का न तो आयात किया जा सकता है और न ही निर्यात। (Revolution can neither be imported nor exported)। बाहरी क्रांतिकारी ताकत किसी देश की क्रांति में मदद नहीं कर सकती–ऐसी बात नहीं है, लेकिन उस बाहरी ताकत की मदद तभी कारगर साबित हो सकती है और क्रांति अपनी सफल परिणति पर तभी पहुंच सकती है, जब उस देश के अनुकूल अन्दरूनी हालात तैयार और परिपक्व हो गये हों, वर्ना नहीं।

मुख्य या प्रधान द्वन्द्व की भूमिका

द्वन्द्ववाद (contradiction theory) के परिप्रेक्ष्य में समाज विज्ञान के और भी दो-चार पहलुओं पर यहां चर्चा करनी जरूरी है। हम जानते हैं कि हर वस्तु में जैसे होता है वैसे ही समाज में भी बहुत सारी शक्तियां समाहित होती हैं, काम करती हैं और उनमें हर वक्त आपस में द्वन्द्व-संघर्ष चलता रहता है। अर्थात वास्तविकता यही है कि हर क्षेत्र में बहुत तरह की शक्तियों के बीच द्वन्द्व-संघर्ष-समन्वय हर पल जारी है। सामाजिक ढांचे के अंदर अर्थव्यवस्था, राजनीति, नीति-नैतिकता, धार्मिक परम्परा, रूढ़िवादी अंध मानसिकता, जातिवाद, व्यक्तिगत स्वार्थ, रीति-रिवाज, दस्तूर आदि ऐसी कितनी ही ताकतों को केन्द्र करके ये जो द्वन्द्व-संघर्ष हर पल चल रहे हैं, ये असंख्य हैं, लेकिन ये सभी द्वन्द्व मुख्य या प्रधान द्वन्द्व नहीं होते। समाज के अन्दर बहुत सारे द्वन्द्वों में से एक विशेष द्वन्द्व होता है, जिसे प्रधान या मूख्य द्वन्द्व

(principal contradiction) कहा जाता है। सामाजिक ढांचे में इस प्रधान द्वन्द्व के बारे में अवधारणा ऐसी है कि इस प्रधान या मुख्य द्वन्द्व को केन्द्र करके ही दूसरे सभी द्वन्द्व क्रिया करते हैं, आवर्तित होते हैं। तब सवाल उठता है कि पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के मामले में यह मुख्य या प्रधान द्वन्द्व क्या होता है? श्रम और पूंजी के बीच जो द्वन्द्व है, अर्थात पूंजीवादी समाज में मजदूर और मालिक के बीच जो द्वन्द्व है, उसे ही पूंजीवादी समाज में प्रधान द्वन्द्व (principal contradiction) कहा जाता है। अर्थात पूंजीवादी समाज व्यवस्था में मजदूरों और पूंजीपतियों के बीच द्वन्द्व ही मुख्य द्वन्द्व है। इन दोनों वर्गों के विचार, दर्शन, आर्थिक व राजनैतिक स्वार्थ–सभी कुछ एक-दूसरे के बिल्कुल विरोधी हैं। मालिक वर्ग का स्वार्थ है मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को टिकाये रखना, जबकि मजदूर वर्ग का स्वार्थ है इसे उखाड़ फेंकना। यह जो प्रधान द्वन्द्व है, यही सामाजिक परिवर्तन को बुनियादी तौर पर प्रभावित करता है। समाज के अंदर यह प्रधान द्वन्द्व समाज के हर व्यक्ति को प्रभावित करता है। यह प्रभाव दोनों दिशाओं में पड़ता है। किसी के क्षेत्र में यह प्रभाव प्रचलित समाज को बरकरार रखने की दिशा में काम करता है और फिर किसी के मामले में यह प्रभाव प्रचलित समाज को उखाड़ फेंकने वाली ताकत को मजबूत करने की दिशा में काम करता है। उस चिंतन का व्यक्ति विशेष में व्यक्तिकरण (personification) होता है। इसलिए, एक मायने में क्रांतिकारी बनने का मतलब है समाज के मुख्य द्वन्द्व को सचेत रूप से समझना और उसे सफल परिणति पर ले जाने के संघर्ष में खुद को लगा देना। अर्थात द्वन्द्व की प्रकृति (nature of contradiction) को सचेत ढंग से समझना (consciously understand) और सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया में सचेत ढंग से प्रतिक्रिया (consciously react) करना।

श्रम और पूंजी पर अगर अलग-अलग करके विचार किया जाये, तो देखा जाता है कि इन दोनों ताकतों में से हरेक ताकत के अपने-अपने अंदर कई मामलों में तरह-तरह के द्वन्द्व मौजूद रहते हैं। इन सभी मामलों पर भी खास तौर पर गौर करना और अध्ययन करना होता है। इसे द्वन्द्व के अंदर द्वन्द्व (contradiction within contradiction) कहा जाता है। लेकिन फिर भी यह बात नजरअंदाज नहीं करनी चाहिए

कि इन सभी द्वन्द्वों में से श्रम और पूंजी के बीच का द्वन्द्व ही प्रधान द्वन्द्व होता है। मैं पहले ही कह चुका हूं कि पूंजीवादी समाज में पूंजीपति वर्ग या बुर्जुआ वर्ग की भूमिका होती है इस सामाजिक ढांचे को टिकाये रखना, जबकि मजदूर वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका होती है इस सामाजिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन लाना। इसलिए समाज के विकास की रफ्तार को और तेज करने के क्षेत्र में हमारा काम है इस मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी ताकत को ही मजबूत करना। राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सैद्धांतिक और सांगठनिक हर पहलू को समेटते हुए ही इस प्रयास को तेज करने की जरूरत है। इसलिए, जब तक इस प्रधान द्वन्द्व को पर्याप्त रूप से प्रभावित या तेज करके परिवर्तन नहीं ला दिया जाता, तब तक इस पूंजीवादी समाज को उखाड़ फेंक कर नया समाज बनाना संभव नहीं होगा।

विरोधात्मक व मिलनात्मक द्वन्द्व

इसके बाद, विरोधात्मक व मिलनात्मक द्वन्द्व के बारे में दो-चार बातें कहकर द्वन्द्व-सिद्धांत के बारे में इस चर्चा को मैं यहीं समाप्त करूंगा। विभिन्न प्रकार के इन द्वन्द्वों के बारे में कभी-कभी एक और तरह से विचार किया जाता है। इस सोच-विचार में एक तरह के द्वन्द्वों को कहा जाता है–विरोधात्मक द्वन्द्व और दूसरी तरह के द्वन्द्वों को कहा जाता है मिलनात्मक द्वन्द्व (antagonistic contradiction and non-antagonistic contradiction)। थोड़ी देर पहले, पूंजीवादी समाज में श्रम और पूंजी के जिस द्वन्द्व की बात कही गयी है, उस द्वन्द्व को विरोधात्मक द्वन्द्व कहा जाता है। इस द्वन्द्व का चरित्र या प्रकृति है एक-दूसरे को उखाड़ फेंकने का द्वन्द्व। सामाजिक पृष्ठभूमि में विचार करने से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि पूंजीपति वर्ग का लक्ष्य है शोषण पर आधारित इस पूंजीवादी व्यवस्था को बरकरार रखना, जबकि इस पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का लक्ष्य लेकर गठित संघर्ष में मजदूर वर्ग की कामयाबी हासिल करने के जरिये ही इस विरोधात्मक द्वन्द्व-संघर्ष को सही तरह से सुलझाया जा सकता है। ऐसी बात नहीं है कि इस द्वन्द्व के चलते रहने पर इन दोनों विरोधी शक्तियों के बीच सामयिक तौर पर मिलन नहीं होता है।

लेकिन वह भी पूंजीपति वर्ग को उखाड़ फेंकने के लिए मजदूर वर्ग द्वारा और भी ज्यादा ताकत बटोरने के मकसद से होता है। इसी वजह से इस तरह के द्वन्द्व को कहा जाता है विरोधात्मक द्वन्द्व (antagonistic contradiction)। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन बुनियादी आम नियमों (three principles of dialectics) के बारे में चर्चा करते समय मैं इस बारे में और विस्तार से व्याख्या करके दिखाने की कोशिश करूंगा।

तब फिर, मिलनात्मक द्वन्द्व का चरित्र क्या है? मिलनात्मक द्वन्द्व का चरित्र या मकसद होता है अन्ततः एकता कायम करने के लिए एक-दूसरे के साथ मिलन के लिए संघर्ष। मैं इसके बारे में एक मिसाल देना चाहता हूं। मान लीजिए कि हमारी पार्टी में या मजदूर वर्ग की किसी एक पार्टी में नेता से लेकर कार्यकर्ता तक सभी मार्क्सवाद-लेनिनवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही एकमात्र सही और वैज्ञानिक दर्शन मानते हैं। चाहे भारत के बारे में कहा जाये या और किसी और देश के बारे में, उस देश की क्रांति की ठोस रणनीति और रणकौशल के बारे में एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी के सदस्यों की सहमति के आधार पर ही रोजाना के काम-काज को संचालित करना पड़ता है। लेकिन इस सबके बावजूद आप सभी जानते हैं कि पार्टी के अंदर नेताओं व कार्यकर्ताओं की समझदारी में अंतर या तजुर्बे में फर्क रहने के चलते संघर्ष संचालन के हर स्तर पर या विभिन्न राजनीतिक, सांगठनिक या सैद्धांतिक सवालों पर आपस में एक-दूसरे से मतभेद या द्वन्द्व दिखाई देना स्वाभाविक है। बुनियादी नजरिये के बारे में एकमत होने के बावजूद इस तरह के द्वन्द्वों का उभरना लाजिमी है। लेकिन इस बात को समझने में दिक्कत नहीं होती है कि जो लोग इस तरह के द्वन्द्व में हर पल लिप्त रहते हैं, उन लोगों के बीच आपसी संबंध किसी तरह भी बैर-भाव या दुश्मनी की मानसिकता से पैदा नहीं हुआ होता। आपसी टकराव की तीव्रता चाहे कितनी भी ज्यादा हो, पर यह द्वन्द्व आपस में कोई बैरभाव पैदा करने की ओर नहीं ले जाता। इस द्वन्द्व का मकसद होता है चिंतन-विचारों की अन्तःक्रिया के जरिये किसी भी मामले में सही फैसले पर पहुंचना और उस फैसले को क्रियान्वित करके न केवल पार्टी को बल्कि आपसी एकता को और भी मजबूत और पक्का करना। अगर समूची पार्टी के परिप्रेक्ष्य में विचार किया

जाये तो यह बात समझना कोई मुश्किल नहीं है कि इस द्वन्द्व का मुख्य मकसद और लक्ष्य पार्टी की एकता को और भी ज्यादा मजबूत करना होता है, न कि पार्टी की एकता को तोड़ना। इसलिए इस तरह के द्वन्द्व को कहा जाता है मिलनात्मक द्वन्द्व।

कॉमरेड्स, पिछले कई दिनों से विज्ञान और दर्शन के विभिन्न विषयों पर यह चर्चा आप सुनते आये हैं। इसके अलावा, अब आप जान गये हैं कि आधुनिक विज्ञान की रोशनी में, वस्तु की अवधारणा आज कहां आ पहुंची है, उसका रूप क्या है। अन्य कई विषयों पर चर्चा से एक मोटा-मोटी धारणा आप लोगों को प्राप्त हुई है। आपने जाना हैं कि वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है। वस्तु की गति का कारण वस्तु से बाहर नहीं होता, बल्कि गति वस्तु का अपना ही गुणधर्म है और वस्तु के अन्दरूनी व बाहरी द्वन्द्वों ने ही मिलकर वस्तु को गतिशील किया है। इसी वजह से वस्तु की गति को वस्तु के अस्तित्व का ढंग कहा जाता है (motion is the mode of existence of matter)। इसकी मूल बात यह है कि गति के बगैर कोई भी वस्तु अस्तित्व में नहीं रहती। अब, दुनिया में ये जो तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे हैं, वस्तु की एक संरचना से दूसरी संरचना में रूपांतरण हो रहे हैं, ये परिवर्तन चाहे वस्तु जगत के क्षेत्र में हों, सामाजिक क्षेत्र में हों या किसी अन्य क्षेत्र में, ये परिवर्तन जब घटित हो रहे हैं, तो ये परिवर्तन भी बिना नियम के नहीं हो रहे हैं, बल्कि नियम से ही नियंत्रित हैं। आपको समझना होगा कि कोई भी परिवर्तन किसी नियम और कार्य-कारण संबंध के बगैर नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान हासिल करने का मायने है परिवर्तन के नियमों को गहराई से जानना-समझना और उन नियमों के अनुरूप ही परिवर्तन को तेज करना। इन नियमों की जानकारी हासिल किये बगैर और इनके ऊपर सचेत क्रिया किये बगैर सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है। अर्थात हम अपनी मनमर्जी से नियम को माने बगैर परिवर्तन नहीं ला सकते। इसलिए परिवर्तन के नियमों के बारे में जानकारी हासिल करने का सवाल इतना महत्वपूर्ण है। फिर यह बात भी याद रखनी चाहिए कि एक विशेष परिस्थिति में जो नियम काम करता है, वह नियम बदली हुई परिस्थिति में अकार्यकारी हो जाता है और अवलुप्त (disappear) हो जाता है।

फलस्वरूप नयी परिस्थिति में नया नियम उभरकर आता है। अब, दुनिया में सर्वत्र परिवर्तनों की यह जो धारा चल रही है, इसका अध्ययन कर मार्क्सवादी विज्ञान या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि जो नियम इन सब परिवर्तनों के पीछे काम करते हैं, उनमें तीन बुनियादी आम नियम हैं, अर्थात परिवर्तन के क्षेत्र में हर जगह तीन आम बुनियादी नियम काम करते जा रहे हैं। इन्हें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन बुनियादी आम नियम (three principles of dialectics) कहा जाता है। वस्तु और समाज के परिवर्तन के बारे में जो अवधारणा आपने पायी है, उसी के आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इन तीन बुनियादी आम नियमों के बारे में अब कुछ मिसालों के साथ संक्षेप में चर्चा करके मैं दर्शन के बारे में इस राजनैतिक शिक्षण शिविर की यह चर्चा समाप्त करूंगा। अब देखा जाये कि ये तीन बुनियादी आम नियम क्या-क्या हैं? एक-एक करके इन तीनों बुनियादी आम नियमों को लेकर चर्चा की जाये।

मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और वाइस-वरसा (From quantitative change to qualitative change and vice-versa)

द्वन्द्ववाद के इन तीन नियमों में से पहला नियम है मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और वाइस-वरसा (vice-versa)। इस नियम के बारे में सबकी स्पष्ट समझदारी के लिए पहले मैं विज्ञान से एक मिसाल देना चाहता हूं। हालांकि इस मिसाल के सहारे चर्चा कर रहा हूं, इसलिए आप इसे यांत्रिक रूप में नहीं लें। इस तरह समझने से गड़बड़ हो जायेगी। मिसाल का जिक्र केवल आपको समझने में सहूलियत के लिए किया गया है। मैंने अलग से कोई नयी मिसाल यहां नहीं दी है। इनमें से दो एक मिसालों को छोड़कर बाकी सभी मिसालें कई मार्क्सवादी ऑथोरिटियों ने अपनी चर्चाओं में पेश की हैं। अन्य अथोरिटियों के साथ मेरे कहने का फर्क महज इतना ही है कि मैंने जैसा समझा है, अपने शब्दों में वैसा आपके सामने रखने की कोशिश करूंगा। आप सभी जानते हैं कि पानी को अगर ताप की मदद से धीरे-धीरे गरम किया जाये, तो एक समय आने पर जितनी मात्रा में

पानी लेकर ताप देना शुरू किया था, ताप पाकर वह सारा का सारा पानी ही उबल कर वाष्प या भाप (steam) बन जाता है। आपने जरूर देखा होगा कि शुरुआत में ताप देने के फलस्वरूप जब पानी गर्म होने लगता है, तभी साथ ही साथ सारा का सारा पानी भाप नहीं बन जाता है। पानी से भाप या वाष्प में परिवर्तित होने में जो गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित होता है—याद रखना होगा कि यहां पानी के रासायनिक गुण का परिवर्तन नहीं हो रहा है—परिवर्तन की वह प्रक्रिया शुरू होने के कुछ समय बाद एक स्तर पर जाकर ही वह गुणात्मक परिवर्तन होता है, उससे पहले नहीं। अब कोई यह सवाल कर सकता है कि तब पानी को गरम करना शुरू करने के बाद शुरुआती अवस्थाओं में क्या पानी में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है? इसका जवाब है कि हां, तब भी पानी में कुछ परिवर्तन हो रहा है, लेकिन उसकी प्रकृति होती है मुख्यतः मात्रात्मक परिवर्तन, अन्य कुछ नहीं। इसे इस मायने में मात्रात्मक परिवर्तन के रूप में समझा जायेगा कि गरम करने से पानी का तापमान (temperature) क्रमशः बढ़ता जाता है, पानी भी धीरे-धीरे ज्यादा से ज्यादा गरम होता जाता है। इसी अर्थ में इसे मात्रात्मक परिवर्तन कहा जाता है। लेकिन देखा गया है कि वायुमंडल का जो सामान्य दबाव है, जिसे atmospheric pressure कहा जाता है, वह जब सामान्य (normal) रहता है, तब गर्म होते-होते 100° सेंटीग्रेड तापमान पर पहुंचते ही सारा का सारा पानी वाष्प या भाप (steam) में तब्दील हो जाता है। इसलिए यह जिस दूसरे परिवर्तन की बात कही गयी है अर्थात पानी उबल कर भाप या वाष्प बनने का जो उल्लेख किया गया है, उसे ही कहा जाता है गुणात्मक परिवर्तन। इसी अर्थ में इसे गुणात्मक परिवर्तन कहा जाता है कि पानी उसके बाद फिर तरल पदार्थ नहीं रह जाता है, वाष्प या भाप में तब्दील हो जाता है।

अब सवाल उठ सकता है कि यहां वाइस-वरसा (vice-versa) का जो जिक्र किया गया है उसका क्या मायने है? यह याद रखना चाहिए कि प्रचलित अर्थ में वाइस-वरसा कहने से जो समझा जाता है। अर्थात विपरीत में यहां उस मायने में वाइस-वरसा शब्द का इस्तेमाल नहीं किया जा रहा है। अर्थात मामला ऐसा नहीं है कि वाइस-वरसा कहने का मतलब गुणात्मक परिवर्तन से उल्टे फिर मात्रात्मक परिवर्तन

की प्रक्रिया में वहीं लौट आना समझा जाये। अर्थात इसे ठीक उल्टी प्रक्रिया समझ लिया जाये। मामला ऐसा बिलकुल नहीं है। पानी के भाप या वाष्प में बदल जाने की जो मिसाल दी गयी है, उसी को मद्देनजर रखते हुए इस वाइस-वरसा विषय के बारे में चर्चा की जा सकती है। विज्ञान के छात्र जानते हैं कि 100°C तापमान तक पहुंचे बिना पूरा का पूरा पानी उबलता नहीं है, भाप में परिवर्तित नहीं होता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है कि सारे पानी का तापमान 100°C तक पहुंचने से पहले पानी का कोई अणु (molecule) वाष्पीकृत (vapourized) नहीं होता है या हो नहीं सकता है। पानी को जब गर्म किया जाता है, तभी पूरा पानी उबल कर भाप न बनने पर भी विशेष-विशेष अणु (individual molecule) पूरे पानी के 100°C तापमान पर पहुंचने से पहले ही भाप बन जा सकते हैं—जहां-जहां 100°C तापमान पैदा होगा। इसलिए पानी का तापमान जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसे मात्रात्मक परिवर्तन कहा जाता है—उस मात्रात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया में ही फिर पानी के कुछ-कुछ अणुओं के मामले में गुणात्मक परिवर्तन पूरे पानी के 100°C तापमान पर पहुंचने से पहले ही हो जाता है। यह विज्ञान में मान्य है। फिर, विशेष-विशेष अणु इस तरह जैसे-जैसे वाष्पीकृत होते हैं वे फिर पानी का तापमान बढ़ाने और मात्रात्मक परिवर्तन को तेज करने में मदद करते हैं। इसी को कहा जाता है वाइस-वरसा।

मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन की यह प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन के मामले में भी गौर करें, तो आप बखूबी समझ पायेंगे। पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की मिसाल को मद्देनजर रखकर ही इस विषय पर चर्चा की जाये और इस क्षेत्र में हमारे देश भारत का उदाहरण सामने रखकर इस विषय पर चर्चा करना ही उपयुक्त होगा। आप लोग जानते हैं कि हर रोज कोई न कोई आंदोलन, तरह-तरह के सांगठनिक क्रियाकलाप, वर्ग-संघर्ष, वैचारिक संघर्ष आदि विभिन्न किस्म की लड़ाइयां जैसे भी हों, देश में हो रही हैं। इसके फलस्वरूप कभी पूंजीपति वर्ग ताकतवर हो रहा है, तो कभी प्रगतिशील ताकतें ताकतवर हो रही हैं। यह उतार-चढ़ाव लगातार जारी है। इन सब के फलस्वरूप मनुष्य के चिंतन, आदतों, रीति-रिवाजों, आचरण-व्यवहार, इन सब क्षेत्रों में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। लेकिन यह परिवर्तन ऐसा

नहीं है कि इसके जरिये ही समाज में बुनियादी परिवर्तन हो जाये। जैसे मान लीजिए, भारत में ब्रिटिश शासकों के हाथों से सत्ता हस्तान्तरण के समय भी यहां पूंजीवादी समाज व्यवस्था कायम थी और आज भी वही पूंजीवाद बरकरार है। लेकिन इन दोनों समय के पूंजीवाद में काफी फर्क है। एक तरफ, पूंजीवाद के संकट, तकनीकी ज्ञान की तरक्की, प्रतिस्पर्द्धा के स्वरूप आदि सब कुछ में बहुत-से परिवर्तन हो गये हैं। दूसरी तरफ, आर्थिक संकट ने देश में विकराल रूप धारण कर लिया है। तमाम चीजों की कीमतें बेतहाशा बढ़ गयी हैं और लगातार बढ़ती ही जा रही हैं। जीवनयापन के साधन और तौर-तरीके भी आये दिन बदलते जा रहे हैं। वर्ग-संघर्ष और भी तेज हो गया है। लेकिन इसके बावजूद पूंजीवाद, पूंजीवाद ही है। फिर पूंजीपति वर्ग के अंदर भी द्वन्द्व लगातार बढ़ रहे हैं। लेकिन मजदूर वर्ग के असंगठित होने और मजदूर वर्ग की पार्टी का यथेष्ट ताकतवर होकर न उभरने के फलस्वरूप पूंजीपति वर्ग उस कमजोरी का फायदा उठा रहा है। इसलिए यह बात साफ जाहिर है कि रोजाना ये जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे पूंजीवाद में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हो रहा है। फिर बात ऐसी भी नहीं है कि कोई भी परिवर्तन नहीं हो रहा है। ये रोजाना धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन मात्रात्मक परिवर्तन कहलाते हैं। ये मात्रात्मक परिवर्तन लगातार होते-होते जब समाज में चरम क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा हो जाती है, समाज में जब द्वन्द्व चरम पराकाष्ठा (climax) पर पहुंच जाते हैं, तब वे एक गुणात्मक परिवर्तन या क्रांति की ओर ले जाते हैं। जैसे रूस में नवम्बर 1917 में पहली समाजवादी क्रांति हुई थी, जहां राजसत्ता से लेकर हर क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया था और दुनिया के छठे हिस्से की जमीन पर मजदूर वर्ग की राजसत्ता कायम हुई थी—इस किस्म के परिवर्तन को कहा जाता है गुणात्मक परिवर्तन, एकाएक परिवर्तन, बुनियादी परिवर्तन या क्रांतिकारी परिवर्तन।

इसलिए आपने देखा कि हर चीज के अंदर, हर दिन, हर पल जो परिवर्तन हो रहा है, उसी को कहा जाता है मात्रात्मक परिवर्तन, आहिस्ता-आहिस्ता परिवर्तन आदि। लेकिन यह परिवर्तन होते-होते जिस क्षण या जिस वक्त पूरी की पूरी चीज में ही एक आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है, उसी को कहा जाता है गुणात्मक परिवर्तन।

मार्क्सवाद में इसी को कहते हैं मात्रात्मक परिवर्तन होते-होते गुणात्मक परिवर्तन। विज्ञान की भाषा में इसी को क्रमशः कहा जाता है निरंतर और अनिरंतर परिवर्तन (continuous and discontinuous change)। इसलिए समाज के द्वन्द्व के चरित्र को सही-सही समझकर अगर आप सचेत रूप में क्रिया (react) कर सकेंगे, तभी उसे क्रांतिकारी अंजाम तक पहुंचाया जा सकेगा।

अब, सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में वाइस-वरसा (vice-versa) को कैसे समझा जाये? यहां भी पूंजीवादी व्यवस्था को ही मिसाल के तौर पर सामने रखकर इस मामले को मैं आपको समझाने की कोशिश करूंगा। आप सभी ने यह तो सुना ही है कि पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में रोजाना, हर पल जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनकी वजह से इस पूरी पूंजीवादी व्यवस्था का आमूल-चूल परिवर्तन तब तक नहीं होगा जब तक कि पूरी परिस्थिति ही एक निर्णायक स्थिति में या nodal point तक न पहुंच जाये। अब इसी पूंजीवादी समाज व्यवस्था में जब वर्ग-संघर्ष और सचेत कोशिशों के जरिये जो कम्युनिस्ट क्रांतिकारी कार्यकर्ता तैयार हो रहे हैं, उनकी अगर व्यक्तिगत तौर पर जांच-परख की जाये तो देखने को मिलेगा कि उनके जीवन के मूल्यबोध, दृष्टिकोण, आदर्श, जीवन के मकसद से लेकर हर क्षेत्र में एक गुणात्मक परिवर्तन हो गया है।

मान लीजिए, जैसे कि इस क्लास में आप साम्यवादी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। संक्षेप में इसका मतलब यह नहीं है कि चर्चा सुनने के साथ-ही-साथ आपके चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन होता जा रहा है। पूंजीवादी शोषण-जुल्म के खिलाफ सही मजदूर वर्ग की पार्टी के नेतृत्व में एक तरफ शोषित-पीड़ित जनता के आंदोलनों में प्रत्यक्ष रूप से शिरकत करके और दूसरी तरफ उन्नत सर्वहारा संस्कृति के आधार पर जीवन के हर पहलू को समेटे हुए कठिन व कठोर संघर्ष लगातार चलाकर ही कोई व्यक्ति इस समाज में सही कम्युनिस्ट बन सकता है। आप यह अच्छी तरह समझ लें कि जब तक कोई व्यक्ति विरासत में मिली पुरानी चीजों को अपनी जिन्दगी के हर पहलू में से झटककर दूर नहीं कर देता, तब तक उसकी जिन्दगी के हर पहलू में गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पायेगा। फिर, यह परिवर्तन की प्रक्रिया चलते हुए ही

देखा जायेगा कि विशेष-विशेष व्यक्ति के क्षेत्र में एक दिन आमूल-चूल परिवर्तन होकर वह सही मायने में कम्युनिस्ट बन गया है, हालांकि उस समय भी सामाजिक व्यवस्था पूंजीवादी ही रह गयी है। यहां पर इन विशेष-विशेष व्यक्तियों को पूंजीवादी समाज के विशेष तत्वों (eliment) के तौर पर ही समझना होगा। इसलिए पूरा सामाजिक ढांचा पूंजीवादी बने रहने के बावजूद, विशेष-विशेष व्यक्ति की जिंदगी में गुणात्मक परिवर्तन होना संभव होता है और हो भी रहा है। इस तरह के कम्युनिस्ट चरित्र हासिल किये हुए लोगों की तादाद समाज में जितनी बढ़ती रहेगी, वर्ग-संघर्ष भी उत्तरोत्तर उतना ही तेज होता जायेगा, क्रांतिकारी आंदोलन और ज्यादा जोरदार होता जायेगा और यह जितना ही ताकतवर होता जायेगा उतना ही मात्रात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को और तेज करने में ज्यादा से ज्यादा मदद करेगा। यही है वाइस-वरसा का सही तात्पर्य।

इसलिए इस चर्चा से यह बात समझने में आपको कोई असुविधा नहीं होगी कि पूंजीवादी समाज में आमूल-चूल परिवर्तन लाने के क्षेत्र में विशेष-विशेष व्यक्ति के मामले में जो गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है, एक-एक करके अनगिनत कम्युनिस्ट कार्यकर्ता बनते जा रहे हैं उस तरह के कार्यकर्ता तैयार करने, उनको न केवल कम्युनिस्ट चरित्र के अधिकारी बनाने, बल्कि उस कम्युनिस्ट चरित्र की रक्षा करने और लगातार उन्नत करते जाने का संघर्ष कितना जरूरी है। अर्थात बात ऐसी नहीं है कि एक पूंजीवादी देश में वर्ग-संघर्ष के प्रभाव से अपने आप कम्युनिस्ट कार्यकर्ता बनते जा रहे हैं और उसी के अंजाम के तौर पर मात्रात्मक परिवर्तन के रास्ते अपने आप गुणात्मक परिवर्तन घटित होता जा रहा है या पूंजीवादी राजसत्ता ध्वस्त होकर समाजवादी राजसत्ता या समाजवादी समाज व्यवस्था कायम होती जा रही है। अर्थात समाज में मजदूर वर्ग की सही पार्टी के नेतृत्व में जिन्दगी के सारे पहलुओं को समेटे हुए हर वक्त महान मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर संघर्ष चलाये बगैर न तो सही मायने में कम्युनिस्ट बना जा सकता है और न ही अपने आप किसी देश में क्रांति सफल हो सकती है। मैं इस पहलू की तरफ आपका ध्यान खास तौर पर आकर्षित करना चाहता हूं। इसलिए मैं कह रहा था कि यह वाइस-वरसा कितना महत्वपूर्ण है।

इसकी अहमियत को सही तरह से समझे बिना हम स्वत:स्फूर्तता (spontaneity) के सिद्धांत के शिकार हो जायेंगे। इसका मायने होगा व्यक्ति के नाते हर कम्युनिस्ट की जो ऐतिहासिक जिम्मेदारी बनती है, उसके महत्व को ही गौण करके देखना।

विरोधी शक्तियों की एकता (Unity of opposites)

तीन बुनियादी आम नियमों में से दूसरा नियम है 'विरोधी शक्तियों की एकता'। आप सभी जानते हैं कि हर इंसान में अच्छाइयां हैं और बुराइयां भी हैं। सिर्फ अच्छाइयां ही अच्छाइयां हों, बुराई कुछ भी नहीं हो–ऐसा इंसान ढूंढ़े से भी नहीं मिलेगा। ऐसा इंसान मिलना जैसे नामुमकिन है, वैसे ही किसी इंसान में सिर्फ बुराइयां ही बुराइयां हों, अच्छाई उसमें कुछ भी नहीं हो–ऐसा इंसान भी ढूंढ़े नहीं मिलेगा। यह नामुमकिन है। तब हम अच्छा आदमी किसे कहते हैं? या बुरा आदमी किसे कहते हैं? इसका अर्थ क्या है? आपको याद रखना चाहिए कि यहां अच्छे और बुरे का सापेक्ष अर्थ में विचार करना होता है। अर्थात जिन लोगों में बुरे पहलुओं की तुलना में अच्छे पहलू ज्यादा हैं, उन्हें हम कहते हैं अच्छे आदमी। फिर, जब देखा जाता है कि किसी आदमी में अच्छाइयां बहुत ही कम हैं और बुराइयां बहुत ही ज्यादा हैं, तो हम उसे कहते हैं बुरा आदमी।

कोई भी सवाल कर सकता है कि इंसान-इंसान में यह फर्क क्यों होता है। यह फर्क इसलिए होता है कि किसी इंसान की चारित्रिक विशेषताएं क्या होंगी–यह नितांत ही उसके अन्दरूनी द्वन्द्व पर निर्भर करता है। यह बात सभी समझ सकते हैं कि हर आदमी में प्रवृत्ति (instinct) और विवेक (conscience) के बीच एक द्वन्द्व-संघर्ष चलता रहता है। यहां एक बात अवश्य ही याद रखनी चाहिए कि कोई आदमी विशेष प्रवृत्ति या विवेक लेकर पैदा नहीं होता है और ये सब अपरिवर्तनीय या शाश्वत भी नहीं हैं। अब द्वन्द्व-संघर्ष की इस प्रक्रिया में जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति उसके विवेक को परास्त कर देने में कामयाब हो जाती है, वह प्रवृत्ति का ही दास बन जाता है। स्वाभाविक रूप से उस आदमी में गुणों के अच्छे पहलू की बजाय दुर्गुणों का बुरा पहलू बढ़ जाता है। ऐसे आदमी को ही हम कहते हैं बुरा आदमी।

इसके विपरीत, जिस आदमी का विवेक बहुत ही सचेत और सक्रिय होता है, जो आदमी विवेक के द्वारा नीच प्रवृत्ति को वश में रखने में कामयाब हो जाता है, ऐसे आदमी के अच्छे गुणों के पहलू ज्यादा विकसित हो जाते हैं, ऐसे आदमी को हम कहते हैं अच्छा आदमी। अर्थात प्रवृत्ति जहां जीत जाती है वह आदमी बन जाता है दुश्चरित्र, फिर विवेक जहां जीत जाता है तो उस आदमी की जिंदगी की दिशा ही बदल जाती है और वह समाज में अच्छे आदमी के रूप में प्रतिष्ठा पाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसे अच्छे आदमियों में कभी भी कोई बुरी या नीच प्रवृत्ति चुपके से घुस नहीं सकती। इसी तरह, बुरे आदमी में कभी कोई विवेक काम नहीं कर सकता—ऐसी बात नहीं है।

अत: यह बात साफ जाहिर है कि हर इंसान में विवेक और प्रवृत्ति के बीच यह द्वन्द्व-संघर्ष लगातार मौजूद रहता है। यह बात भी अत्यंत सुस्पष्ट है कि एक ही आदमी में विवेक और प्रवृत्ति पूरी तरह से विरोधी सत्ताएं होकर भी सहअस्तित्व में रहती हैं और इन दो विरोधी शक्तियों के बीच द्वन्द्व को लेकर ही हर आदमी अस्तित्व में है। फिर, इन दो विरोधी शक्तियों के बीच जैसे द्वन्द्व है, वैसे ही उनमें समन्वय भी है। इन दो विरोधी शक्तियों के बीच एकता से ही हम समाज में स्वाभाविक आदमी को देख पाते हैं। प्रवृत्ति व विवेक के बीच द्वन्द्व में यह एकता एवं समन्वय न रहने से आदमी पागल हो जाता है, उसके मानसिक संतुलन में कमी आ जाती है। अर्थात एक अच्छे आदमी में जब कोई नीच प्रवृत्ति चुपके से आने लगती है, तो वह बुद्धि की मदद से, सचेत प्रयास के सहारे उस पर काबू पा लेता है। इसके फलस्वरूप ही आदमी के मन का संतुलन ठीक रहता है, वह नॉरमल या स्वाभाविक आदमी के रूप में जिन्दगी जीता है। लेकिन कोई आदमी अगर इन विरोधी शक्तियों के बीच यह संतुलन कायम करने में असमर्थ हो जाता है, तो एक प्रक्रिया के तहत उस आदमी का उत्तरोत्तर मानसिक संतुलन बिगड़ता जाता है। मानसिक द्वन्द्व में परेशान होकर एक दिन वह आदमी पागल हो जाता है।

सामाजिक पहलू से गौर करें तो विरोधी शक्ति की एकता के इस नियम को आप समझ पायेंगे। जैसे उदाहरण के लिए मान लीजिए,

पूंजीवादी समाज में पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग–ये दो मुख्य विरोधी शक्तियां एक दूसरे को उखाड़ फेंकने के लिए लड़ रही हैं। पूंजीपतियों और मजदूरों की इस लड़ाई का चरित्र एक दूसरे को मिटा देने की कोशिश करने वाला होता है। आप पहले ही सुन चुके हैं कि इस तरह के द्वन्द्व को ही कहा जाता है विरोधात्मक द्वन्द्व (antagonistic contradiction)। स्वाभाविक रूप से ही यहां यह सवाल आये बगैर नहीं रह सकता कि मजदूर वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच संघर्ष का मूल उद्देश्य जहां एक-दूसरे को उखाड़ फेंकना है, वहां फिर यह पूंजीवादी समाज टिका कैसे है? क्यों इस समाज की कानून-व्यवस्था व नियम-अनुशासन को कमोबेश सभी मानकर चल रहे हैं? मजदूर वर्ग एक ऐसे समाज में उत्पादन में भाग क्यों ले रहा है, जिसमें उत्पादन का मकसद पूंजीपति वर्ग द्वारा ज्यादा से ज्यादा मुनाफा लूटना है? जहां पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग, इन दोनों शक्तियों के आपस में एक दूसरे को मिटा डालने के संघर्ष में लिप्त होने की बात है, फिर वे आपस में सहयोग के आधार पर कैसे पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को टिकाये रख रही हैं? हालांकि ऐसी घटना दुनिया में आज पहली बार घट रही है–ऐसी बात भी नहीं है, बल्कि इससे पहले भी इस तरह की घटनाएं देखने में आयी हैं। पूंजीवाद के उदयकाल में जब सामंती समाज व्यवस्था के अंदर उदीयमान पूंजीपति वर्ग सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ रहा था, तब भी ऐसी ही घटना घटित हुई थी। इतिहास में जब तक सामंतवाद (feudalism) टिका रहा, तब तक एक-दूसरे के बिल्कुल विरोधी स्वार्थ लेकर चलने के बावजूद, सामंती प्रभु और पूंजीपति वर्ग–इन दोनों वर्गों में एकता और समझौते के आधार पर वह टिका रहा। उन्होंने आपस में लड़ाई भी की थी, फिर समझौते भी किये थे। ये समझौते क्यों किये थे? पूंजीपति वर्ग जब तक सामंतवाद या राजतंत्र को उखाड़ नहीं पाया, उखाड़ फेंकने लायक ताकत या योग्यता उसने हासिल नहीं कर ली, तब तक उस सत्ताधारी और शक्तिशाली राज शक्ति या सामंती ताकतों से उदयीमान पूंजीवादी ताकतों को संधि-समझौता करके ही रहना पड़ा था और ये संधि-समझौते जो ताकतवर था उसके अनुकूल ही करने पड़े थे। जितनी दूर तक अपने

स्वार्थ की पूर्ति की जा सकती थी या जितनी भी जल्दी अपनी ताकत बढ़ायी जा सकती थी, उस मकसद को मद्देनजर रखते हुए ही पूंजीपति वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) को सामंतवाद के साथ समझौता करके ही चलना पड़ा था। अर्थात सामंतवाद को ध्वस्त कर देने लायक एक निश्चित ताकत जब तक पूंजीपति वर्ग ने हासिल नहीं कर ली, तब तक उसे बार-बार सामंतवाद के साथ समझौता (compromise) करना पड़ा था। इसी वजह से सामंती समाज व्यवस्था में पूंजीपति वर्ग और सामंती प्रभुओं, इन दो विरोधी शक्तियों के बीच द्वन्द्व रहने के बावजूद, सामंतवाद उसी तरह टिका रहा, जिस तरह आज पूंजीवाद टिका हुआ है।

इस पूंजीवादी समाज व्यवस्था में आप लोग क्या देख रहे हैं? यहां शोषण की मार से कभी-कभी मजदूर विक्षुब्ध होकर मालिक के खिलाफ आंदोलन करते हैं, यहां तक कि हड़ताल भी करते हैं। लेकिन क्या हर रोज, हर वक्त मजदूर हड़ताल कर सकते हैं? नहीं, क्योंकि अगर मजदूर हड़ताल करेंगे तो वे खायेंगे क्या? फलस्वरूप काम किये बगैर वे जिन्दा रह नहीं सकते। क्रांति के रास्ते पूंजीवादी राजसत्ता को उखाड़ फेंकना चाहने से ही तो क्रांति नहीं हो जाती है। आप सभी जानते हैं कि हड़ताल का मतलब क्रांति नहीं है। किसी एक उद्योग में मजदूर मालिक के खिलाफ लड़ रहे हैं, मजदूरों के विक्षोभात्मक आंदोलन खूब हो रहे हैं–इसका मतलब यह नहीं है कि तभी क्रांति हो गयी, मजदूर वर्ग ने राजसत्ता अपने हाथ में ले ली और पूंजीपति वर्ग अपने कारोबार का बोरिया बिस्तर समेट कर भाग खड़ा हुआ। राजसत्ता से पूंजीपति वर्ग को बेदखल करने लायक जरूरी व पर्याप्त ताकत जब तक मजदूर वर्ग द्वारा बटोर नहीं ली जाती तब तक यह सोचना गलत होगा कि चूंकि पूंजीपति वर्ग हमारा दुश्मन है, तब उसके साथ बैठक या समझौता-वार्ता करने की क्या जरूरत या फिर उसके साथ समझौता क्यों करें। ऐसी गलती हमें हरगिज नहीं करनी चाहिए। हमें मजदूरों को समझाना पड़ेगा कि इस ढंग से वे अपनी शक्ति को खामख्वाह नष्ट कर डालेंगे, लेकिन इससे पूंजीवाद का बाल भी बांका नहीं कर पायेंगे। उल्टे ऐसे दुस्साहसिक कार्यों से कुछ लोग भ्रमित हो जायेंगे। जितना कुछ क्रांतिकारी संगठन बना हुआ था, उस पर भी अचानक चोट करने

का शासक वर्ग को मौका और बहाना मिल जायेगा। हालांकि ऐसी चोट कई दूसरी तरह से भी पड़ सकती है लेकिन वह चर्चा भिन्न है।

जो लोग क्रांति की जटिलता को नहीं समझते हैं, उन लोगों को ख़याल रखना चाहिये कि सिर्फ 'क्रांति' 'क्रांति' कहकर चिल्लाने से ही क्रांति नहीं आ जाती है। इस क्रांतिकारी संघर्ष के अंदर विभिन्न किस्म की जटिलताएं होती हैं, इसमें उतार-चढ़ाव आते हैं, 'टविस्ट एण्ड टर्न' हैं, बहुत सारे समझौते भी हैं। विरोधी शक्तियों की एकता के नियम की मूल बात यह है कि दुश्मन को उखाड़ फेंकने लायक ताकत जब तक हासिल नहीं कर पाते, तब तक निसंदेह यह एकता या समझौता करना पड़ सकता है। यह बात ठीक है, लेकिन इस समझौते का मूल मकसद है ताकत बटोरना, दुश्मन को खत्म करने लायक योग्यता हासिल करना, कुछ सुविधाएं पाना नहीं या दुश्मन के आगे आत्म समर्पण कर देना नहीं। इसलिए इस तरह की निर्णायक शक्ति संचित करने से पहले तक देखा जाता है कि बार-बार मालिक के खिलाफ मजदूरों की लड़ाई हो रही है, फिर उन्हीं मजदूरों को मालिक के अधीन काम भी करना पड़ रहा है और उत्पादन कार्य में हिस्सा भी लेना पड़ रहा है। इसलिए यह जो उत्पादन हो रहा है, उत्पादन व्यवस्था चालू है–यह सब कुछ विरोधी शक्तियों की एकता के नियम को मानकर हो रहा है। कम्युनिस्ट आंदोलन में जो लोग इस नियम को नहीं समझ पाये, उन्होंने उग्र वामपंथी राजनीति पर अमल किया, श्रमिक संघवाद (syndicalism) जैसी नुकसानदायक राजनीति को प्रश्रय दिया, लेकिन मजदूर वर्ग को शोषण से निजात पाने का रास्ता नहीं दिखा सके। विरोधी शक्तियों की एकता का यह नियम आपको इसी तरह से समझना होगा।

निषेध का निषेध (Negation of the negation)

तीन बुनियादी आम नियमों में से तीसरा नियम है निषेध का निषेध (negation of the negation)। इसका मायने यह है कि दुनिया में सिर्फ सृजन ही सृजन होता है या सिर्फ ध्वंस ही ध्वंस होता है–ऐसी बात नहीं है। सृजन का मायने ही है ध्वंस। फिर ध्वंस के माध्यम से ही नये का सृजन होता है। अर्थात विकास के रास्ते ही विलुप्ति, फिर विलुप्ति के

रास्ते ही विकास होता है। जैसे उदाहरण के लिए मानव शरीर को ही ले लीजिए। शारीरिक विशिष्टताओं के पहलू से इस मानव शरीर की कुछ विशेष अवस्थाएं हैं–शैशव अवस्था, किशोर अवस्था, युवा अवस्था, प्रौढ़ अवस्था और फिर वृद्ध अवस्था। यही मानव शरीर के परिवर्तन के विभिन्न चरण हैं और परिवर्तन के हरेक चरण में पुरानी अवस्था के ध्वंस के माध्यम से दूसरी अवस्था का सृजन होता है। जैसे कि एक बच्चे के शरीर में हर रोज जो परिवर्तन होता है, हर रोज होने वाले उस परिवर्तन को हम रोजाना महसूस नहीं कर पाते। लेकिन हम महसूस नहीं कर पाते हैं– इसका मतलब यह नहीं है कि बच्चे के शरीर में हर रोज कोई परिवर्तन ही नहीं हो रहा है। अचानक एक समय पर आकर हमें पता चलता है कि वह बच्चा अब बच्चा नहीं रह गया, बल्कि वह किशोर अवस्था में प्रवेश कर चुका है। ठीक इसी तरह से यह देखने में आता है कि किशोर अवस्था पार करके वह जवान हो गया है। उसके बाद प्रौढ़ अवस्था और आखिरकार उसने बुढ़ापे में कदम रख दिया है। मानव शरीर के परिवर्तन की इस प्रक्रिया पर गौर करने से हम समझ सकेंगे कि हर क्षण बचपन का ध्वंस किये बगैर बच्चा कभी किशोर अवस्था में पदार्पण नहीं कर पाता। एक बच्चे ने किशोरावस्था में कदम रख दिया है–इसका मायने ही है बचपन को तिल-तिल खत्म करके उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया है। इसी प्रक्रिया में किशोरावस्था को तिल-तिल खत्म करके वह पूर्ण यौवन में पहुंचा है और इसी तरह युवा अवस्था को खत्म करके ही वह पहले प्रौढ़ अवस्था में और फिर वृद्ध अवस्था में पहुंचा है। अत: न तो महज ध्वंस कहने को कुछ है और न ही सिर्फ सृजन कहने को भी कुछ है। अकेला निषेध (simple negation) नहीं, बल्कि यह निषेध का निषेध (neagation of the negation) है। इसी वजह से निषेध के निषेध (neagation of the negation) को मैंने कहा है–विकास के रास्ते विलुप्ति और विलुप्ति के रास्ते विकास। दिन-ब-दिन लगातार पुराने को, अतीत को ध्वस्त किये बगैर नित्य नये का विकास नहीं होता है। इसी वजह से सृजन और ध्वंस एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत रूप से जुड़े हुए हैं।

समाज के मामले में भी यही बात लागू होती है। समाज के क्रम-विकास के इतिहास से जो लोग वाकिफ हैं, उन सभी को मालूम

है कि मानव समाज आदिम अवस्था में वर्ग-विभाजित नहीं था। ऐतिहासिक कारण से ही, उत्पादन के एक विशेष स्तर पर पहुंचकर समाज वर्ग-विभाजित हुआ। आदिम अवस्था में प्रकृति के खिलाफ मानव का द्वन्द्व ही समाज का प्रधान द्वन्द्व था। लेकिन समाज जब से वर्ग-विभाजित हुआ, तब से प्रकृति के खिलाफ मानव का जो संघर्ष चल रहा था, उसके साथ ही वर्ग-संघर्ष भी जुड़ गया। वर्ग-विभाजित समाज पैदा होने के बाद से विभिन्न समाजों में इस वर्ग-संघर्ष का स्वरूप जहां बदलता गया, वहीं वह लगातार तीव्र से तीव्रतर भी होता गया, जिसने अब पूंजीवादी समाज में आकर प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है। समाज की बुनियादी विशेषताओं और वर्ग-विन्यास की तरफ अगर गौर किया जाये, तो देखा जायेगा कि वर्ग-विभाजित हो जाने के बाद समाज परिवर्तन की इसी प्रक्रिया में समाज में क्रमशः दासप्रभुओं-दासों में बंटा समाज, सामंती समाज, पूंजीवादी समाज और समाजवादी समाज का आविर्भाव हुआ है। सामाजिक ढांचे और उसके वर्ग-विन्यास की तरफ गौर किया जाये तो यह बात साफ समझ में आ जायेगी कि दास व दासप्रभु में बंटा जो समाज था, उसने खुद को मिटाने के रास्ते ही मात्रात्मक व गुणात्मक परिवर्तन के जरिये सामंती समाज व्यवस्था को जन्म दिया। इसी प्रक्रिया के रास्ते पर चलते हुए एक पर एक सामंती समाज व्यवस्था से फिर पूंजीवादी समाज व्यवस्था और पूंजीवादी समाज व्यवस्था से समाजवादी समाज व्यवस्था का आविर्भाव हुआ है। हमें याद रखना चाहिए कि किसी एक खास समाज की मृत्यु हो जाने के बाद समग्र रूप से मानव समाज की मृत्यु नहीं हो जाती है, न ही ऐसा हो सकता है। परिवर्तन इस तरह हो रहा है कि एक खास सामाजिक व्यवस्था दूसरी एक सामाजिक व्यवस्था में रूपांतरित हो जाती है। इसलिए, सामाजिक क्रम-विकास की प्रगति के क्षेत्र में भी यह निषेध के निषेध (neagation of the negation) का बुनियादी आम नियम काम कर रहा है।

निषेध के निषेध (neagation of the negation) के नियम की और एक पहलू से भी चर्चा की जा सकती है। आप सब जानते हैं कि वर्तमान पूंजीवादी राजसत्ता को उखाड़ फेंकने के संघर्ष में मजदूर वर्ग की एक सही पार्टी की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण होती है। सिर्फ इतना

ही नहीं, बल्कि पूंजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रांति सफल हो जाने के बाद पूंजीवादी समाज और साम्यवादी समाज के दरम्यान संक्रमणकाल (transitional period) में जो समाजवादी समाज व्यवस्था होती है, उस दौर में भी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और इसे सुदृढ़ करने के काम में मजदूर वर्ग की पार्टी को एक कठिन और कठोर संघर्ष जारी रखना पड़ता है। इस दौर में वर्ग-द्वन्द्व और वर्ग-संघर्ष विलुप्त नहीं हो जाते हैं, वर्ग-संघर्ष और ज्यादा जटिल और सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के पास बहुत ही महत्वपूर्ण हथियार होती है मजदूर वर्ग की पार्टी और उसकी सही नेतृत्वकारी भूमिका। फिर सामाजिक प्रगति के क्रम में समाजवादी समाज व्यवस्था का स्तर पारकर मनुष्य जब साम्यवादी समाज में पहुंचेगा, अर्थात जब समाज में चीजों के उत्पादन व वितरण को लेकर कोई द्वन्द्व नहीं रह जायेगा और ज्यादातर लोगों का नैतिक-सांस्कृतिक-रुचिगत मान एक ऐसे स्तर पर पहुंच जायेगा कि सामाजिक स्वार्थ और व्यक्तिगत स्वार्थ के बीच जो विरोधात्मक द्वन्द्व है, वह मिलनात्मक द्वन्द्व में रूपान्तरित हो जायेगा, उस दिन समाज में वर्गों की विलुप्ति के साथ-साथ राजसत्ता और पार्टी भी विलुप्त हो जायेगी। याद रखें, जब तक ये सारी शर्तें पूरी नहीं हो जातीं, तब तक साम्यवादी समाज कायम नहीं हो सकता। याद रखें, राजसत्ता और पार्टी की जो विलुप्ति होगी, वह भी निषेध के निषेध (neagation of the negation) के नियम के आधार पर ही होगी। फिर निषेध के निषेध के जरिये जो आता है, वह जिसे निषेध (neagte) करके आता है, उससे गुणगत रूप से उन्नततर होता है।

आपको अच्छी तरह से समझना होगा और देशवासियों को समझाना होगा कि यह पूंजीवादी शोषण और लोगों की बदहाली शाश्वत नहीं है। इस पूंजीवादी व्यवस्था की भी एक न एक दिन मौत होगी–हमारे देश में भी और दुनिया में भी हर जगह। लेकिन इस परिवर्तन के लिए यह जरूरी है कि जनसाधारण के मन में जन्म, मृत्यु, भाग्य, आर्थिक दुर्दशा आदि विभिन्न सवालों को लेकर जो सब पूर्वाग्रह, झूठी और भ्रांत धारणाएं, गलतफहमियां, भ्रम-भ्रांतियां फैली हुई हैं, वे सब उनके मन से आपको दूर करनी पड़ेंगी। अर्थात सभी भ्रांत धारणाओं से उन्हें मुक्त

करना पड़ेगा और इसके साथ-साथ समाज में हर पल जो परिवर्तन हो रहा है, उसकी प्रक्रिया भी आपको तेज करनी होगी। संक्षेप में यह कहें कि वर्ग-संघर्ष को तीव्रतर करना और इस संघर्ष को सफल क्रांति की परिणति तक पहुंचा देने लायक उपयुक्त हथियार के तौर पर मजदूर वर्ग की पार्टी आपको मजबूत करनी होगी और वर्ग-संघर्ष और जन आंदोलन को जोरदार करना होगा ताकि वे अजेय हो जायें। यह काम आप सब के द्वारा सचेत भूमिका निभाने पर ही निर्भर करता है और मार्क्सवादी दर्शन की किताबों को सिर्फ पढ़ने या कंठस्थ करने पर नहीं, बल्कि जीवन और कार्य-व्यवहार में इसे लागू करके सभी की समझदारी को और ज्यादा साफ व प्रांजल करने और आपके द्वारा सही कम्युनिस्ट क्रांतिकारी चरित्र का उन्नत नैतिक-सांस्कृतिक स्तर हासिल करने पर निर्भर करता है। याद रखें, इस काम में आप जितनी जल्दी कामयाबी हासिल करेंगे भारत की क्रांति उतनी ही जल्दी होगी।

इसी के साथ इस शिक्षण शिविर में मार्क्सवादी दर्शन संबंधी यह चर्चा मैं यहीं समाप्त कर रहा हूं।

26, 27 व 28 जून 1964 को कोलकाता के मुस्लिम इन्स्टीट्यूट हॉल में एसयूसीआई(कम्युनिस्ट) की पश्चिम बंगाल राज्य कमेटी द्वारा आयोजित एक राजनीतिक शिक्षण शिविर की चर्चा। यह बांग्ला में पहले पहल अप्रैल, 1990 में किताब के रूप में प्रकाशित हुई।